अनेकान्त

वीर सेवा मंदिर
21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

वीर सेवा मंदिर का त्रैमासिक
अनेकान्त
प्रवर्त्तक : आ. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

इस अंक में -

कहाँ/क्या?

वर्ष-55, किरण-3
जुलाई-सितम्बर 2002

सम्पादक :
डॉ. जयकुमार जैन
261/3, पटेल नगर
मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)
फोन : (0131) 603730

परामर्शदाता :
पं. पद्मचन्द्र शास्त्री

संस्था की आजीवन सदस्यता 1100/-
वार्षिक शुल्क 30/-
इस अंक का मूल्य 10/-
सदस्यों व मंदिर के लिए निःशुल्क

प्रकाशक :
भारतभूषण जैन, एडवोकेट

मुद्रक :
मास्टर प्रिन्टर्स 110032

विशेष सूचना : विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक उनके विचारों से सहमत हों। इसमें प्रायः विज्ञापन एवं समाचार नहीं लिए जाते।

वीर सेवा मंदिर
21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, दूरभाष : 3250522

संस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80 जी के अंतर्गत आयकर में छूट

(रजि. आर 10591/62)

जिनवर-स्तवनम्

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर णट्ठं चिय मण्णियं महापावं।
रविउग्गमे णिसाए ठाइ तमो कित्तियं कालं।।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर सिज्झइ सो को वि पुण्णपब्भारो।
होइ जिणो जेण पहू इह-परलोयत्थसिद्धीणं।।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर मण्णे तं अप्पणो सुकयलाहं।
होही सो जेणासरिससुहणिही अक्खओ मोक्खो।।

-मुनि श्री पद्मनन्दि

हे जिनेन्द्र! आपका दर्शन होने पर मैं महापाप को नष्ट हुआ ही मानता हूँ। ठीक है- सूर्य का उदय हो जाने पर रात्रि का अन्धकार भला कितने समय ठहर सकता है? अर्थात् नहीं ठहरता, वह सूर्य के उदित होते ही नष्ट हो जाता है।।

हे जिनेन्द्र! आपका दर्शन होने पर वह कोई अपूर्व पुण्य का समूह सिद्ध होता है कि जिससे प्राणी इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी अभीष्ट सिद्धियों का स्वामी हो जाता है।

हे जिनेन्द्र! आपका दर्शन होने पर मैं अपने उस पुण्यलाभ को मानता हूँ, जिससे कि मुझे अनुपम सुख के भण्डार स्वरूप वह अविनश्वर मोक्ष प्राप्त होगा।

विचारणीय

भरतक्षेत्र के "सीमंधर" दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द?

-पद्मचन्द्र शास्त्री

"बहुत शोर सुनते थे पहलू में दिल का।
जो चीरा तो कतरए खूं भी न निकला॥"

जैन 'जिन' का धर्म हैं और 'जिन' वीतराग होते हैं-तिल तुष मात्र परिग्रह से अछूते। अपर शब्दों में हम इन्हें दिगम्बर कह सकते है। हम सब आज अपने को दिगम्बर धर्मी कहने में गौरव का अनुभव करते हैं, पर कम लोग ही ऐसे होंगे जो दिगम्बरत्व - संरक्षण के इतिहास से परिचित हों। हमारी मान्यता रही है कि एक बार बारह वर्ष का अकाल पड़ा, उससे पहले जैन धर्म भागों में विभक्त नहीं था। व्यक्तिगत रूपों में कई बातों में मतभेद होते हुए भी वे परम्परित जैन ही कहलाते रहे। पर बारह वर्षीय अकाल के बाद अनेक शिथिलाचारों के कारण उनमें दिगम्बर-श्वेताम्बर जैसे दो भेद हो गए और कालान्तर में तो अब अनेकों भेद सुने जाते हैं। अस्तु....

दिगम्बरों और श्वेताम्बरों में पर्याप्तकाल तक मतभेद और विवाद चलते रहे और धर्मनियमों की मर्यादाएँ बिखरने लगीं, तब धर्म की मूल-मर्यादा की रक्षा का श्रेय आचार्य पद्मनन्दी (कुन्द-कुन्द) को प्राप्त हुआ। उन्होंने वीतराग धर्म के मूल 'दिगम्बरत्व' की रक्षा की और हमारे 'मूलाचार्य' कहलाए और दिगम्बरों को 'कुन्द-कुन्दाम्नायी' कहलाने का सौभाग्य मिला।

जब वीतराग धर्म अर्थात् दिगम्बरत्व की यम-नियम सम्बन्धी सीमाएँ ध्वंस हो रहीं थीं तब कुन्द-कुन्दाचार्य ने उन्हें दृढ़ता से स्थापित किया। फलतः सीमाओं को धारण करने के कारण वे स्वयं **सीमंधर** थे परन्तु ऐसे में लोगों ने कल्पना कर डाली कि वे विदेह क्षेत्र के तीर्थंकर सीमंधर स्वामी के पास

गए और इसकी पुष्टि में उन्होंने मनमानी, भिन्न-भिन्न कथाऐं रच डालीं, जो आगम सम्मत नहीं हैं, उन्हें गढ़कर उनका प्रचार कर दिया-आदि। ऐसा सब इसीलिए हुआ कि लोगों की दृष्टि में विदेह के एक मात्र तीर्थंकर सीमंधर स्वामी ही थे जो उन्हें (कुन्द-कुन्द को) बोध दे सकते थे। कथाओं के माध्यम से किन्हीं ने कहा कि उन्हें विदेह देव ले गए तो किन्हीं ने कहा कि चारण मुनि ले गए। एक महान् विद्वान् ने तो यहाँ तक लिख दिया कि बिहार प्रान्त की ओर विदेह है वहीं कुन्द-कुन्द गए आदि।

जबकि इस प्रकार की कथाएँ आगमिक न होकर कल्पना मात्र हैं और इनमें मुनिचर्या विरोधी आदि अनेकों प्रसंग उपस्थित होते हैं। जैसे प्रश्न उठते हैं कि क्या कुन्द-कुन्द स्वामी ने देवों से विमान में बिठाकर विदेह ले जाने को कहा? या फिर देवों ने बलात् उन्हें विमान में बिठा लिया? यदि ऐसा था तो आगम में इसका कहीं तो उल्लेख होना चाहिए था। ऐसी अवस्था में आचार्य को प्रायश्चित भी करना चाहिए था जिसका आगम में कहीं उल्लेख नहीं है। न चारण ऋद्धि या आहारक-शरीर आदि का उल्लेख ही है। यदि आगम में कहीं भी किसी एक का भी उल्लेख हो तो प्रमाण सहित खोजा जाए।

इसके सिवाय न कहीं कुन्द-कुन्द ने ही अपने विदेहगमन की बात की है और न कहीं सीमंधर तीर्थंकर का उपकार ही स्मरण किया है। जबकि वे बार-बार श्रुतकेवली (भद्रबाहु स्वामी) का स्मरण करते रहे हैं। कुन्द-कुन्द स्वामी के विदेह गमन और सीमंधर स्वामी के पास जाने की मान्यता वालों के लिए क्या यह बिडम्बना नहीं होगी कि कुन्द-कुन्द स्वामी तीर्थंकर सीमंधर का स्मरण छोड़ बार-बार श्रुतकेवली का उपकार मानते रहे जबकि श्रुतकेवली उनसे लघु होते हैं।

प्राकृत के महान् शब्दकोष 'अभिधानराजेन्द्र' में 'सीमंधर' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार ही है- **"सीमां-मर्यादां पूर्वपुरुषकृतां धारयति। न आत्मना विलोपयति यः सः तथा। कृतमर्यादा पालके।"**

इसका अर्थ इस प्रकार है सीमा-मर्यादा, जो पूर्वपुरुषों तीर्थंकरों, गणधरादि श्रुतकेवलियों तथा निर्दोष चारित्रपालक आगमज्ञ परंपरित आचार्यों द्वारा स्थापित की गई है उसको धारण करते-कराते हैं-स्वयं उसका लोप नहीं करते हैं और मर्यादा का पालन करने वाले हैं वे **'सीमंधर'** कहलाते हैं।

परमपूज्य स्वामी पद्मनन्दी (कुन्द-कुन्द) आचार्य ऐसे ही थे। कुन्द-कुन्दाचार्य ने दिगम्बर की सीमा का विशद रूप में निर्धारण किया इसीलिए इन्हें **'मूलाचार्य'** कहा गया और कालांतर में देवसेन जैसे मान्य आचार्य ने इन्हें गाथा में **'सीमंधर'** विशेषण से विभूषित किया। देवसेन जैसे महान् आचार्य जो सिद्धांत के ज्ञाता थे वे पद्मनन्दी आचार्य के विदेहक्षेत्रस्थ तीर्थंकर सीमंधर स्वामी के समीप जाने की कल्पना कर सिद्धांत का विरोध क्यों करते? आचार्य देवसेन ने विदेह गमन की बात भी कहीं नहीं कही। वे जानते थे कि कथाऐं वे ही मान्य होतीं है-जो सिद्धांत से अविरूद्ध और सिद्धान्त की पोषक हों।

विदेह गमन की कथाओं में एकरूपता न होने और सिद्धांत विरोधी होने से वे मान्य कैसे हो सकतीं हैं? कुन्द-कुन्द ने बारम्बार श्रुतकेवली के उपकार का स्मरण कर और कहीं एक बार भी सीमंधर का स्मरण न कर स्वयं यह स्पष्ट कर दिया है कि वे विदेह नहीं गए-उनके गुरू श्रुतकेवली ही थे जिनसे उन्हें बोध प्राप्त हुआ। वे स्वयं भरत क्षेत्र के **'सीमंधर'** थे अतः उनके विदेह जाने की कल्पना निराधार एवं आगम विरुद्ध है।

हम निवेदन कर दें कि दिगम्बरत्व की सीमा (मर्यादा) का निर्धारण करने वाले **सीमंधर** कुन्द-कुन्द हमारे मूलाचार्य हैं। उनमें हमारी दृढ़ आस्था है। हमें खेद है कि इस युग में अर्थ की प्रधानता ने लोगों पर ऐसा जादू डाला है कि कतिपय दिगम्बर जैन प्रमुख-प्रखर-वक्ता तक कुन्द-कुन्द की जय बोलकर कुन्द-कुन्द द्वारा घोषित नियमों की अवहेलना करने तक में प्रमुख बन रहे हैं, साधारण विद्वानों एवं अन्य श्रावकों की तो बिसात ही क्या? वे भी किन्हीं न किन्हीं भावों को संजोए उनके आगे पीछे चक्कर लगाने में व्यस्त दिखाई देते हैं।

कुछ ऐसी हवा चल गई है कि लोग आत्मदर्शन के साधनभूत व्रत संयमादि

की उपेक्षाकर परिग्रह में लीन रहकर आत्मदर्शन का प्रचार करने में लगे हुए हैं और लाखों दिगम्बर जैन चारित्र की उपेक्षाकर मात्र साम्बरत्व में आत्मदर्शन का यत्न करने में लगे हैं, जबकि कुन्द-कुन्द की स्पष्ट घोषणा है कि-

परमाणुमित्तयं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि।।

अर्थात् जिसके रागादि (राग, द्वेष, मोह) परमाणु मात्र भी विद्यमान है वह समस्त आगमों का धारी होने पर भी आत्मा को नहीं जानता है।

यदि मूलाचार्य कुन्द-कुन्द की इस घोषणा की उपेक्षा चलती रही तो कुछ काल बाद साम्बरत्व में आत्मादर्शन व मुक्ति होने तक की परिपाटी चल जाएगी जो दिगम्बरत्व के सिद्धांत के लिए घातक होगी।

क्या दिगम्बरों को यह इष्ट है-परिग्रही को मुक्ति?

आचार्य देवसेन ने जो गाथा कही है हमने वह उद्धृत देखी है प्रयत्न करने पर भी अभी हमें मूल ग्रंथ प्राप्त नहीं हो पाया है, प्राप्त होने पर ही हमें मूलगाथा देखकर पता चलेगा कि वास्तविकता क्या है। उद्धृत प्राप्त गाथा से तो 'अभिधान राजेन्द्र कोष' सम्मत अर्थ की ही पुष्टि होती है।

-वीर सेवा मंदिर
21, दरियागंज
नई दिल्ली-110002

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडामिणमो सुयकेवलीभणियं।।

-समयसार का मंगलाचरण

अर्थ- स्थिर, शाश्वत और अनुपम गति को प्राप्त करने वाले सब सिद्ध परमात्माओं को नमस्कार करके मैं श्रुतकेवलियों के द्वारा कहे गये *समयप्राभृत* (नामक *ग्रन्थ*) को कहूँगा।

कुन्दकुन्द के विषय में जनश्रुति विषयक अवधारणा

आ. कुन्दकुन्द सर्वमान्य श्रुतधर आचार्य हैं। उनके अवदानों से प्रभावित होकर श्रद्धातिरेक में उनके बहुमान में जनश्रुति प्रचलित हुई कि वे विदेह गमन करके सीमंधर स्वामी से बोध को प्राप्त हुए थे, परन्तु इस विषय में शास्त्रीय प्रमाण उपलब्ध नहीं है। डा. नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य ने लिखा है-

"जहाँ तक विदेह यात्रा की बात है, उसके साधक यद्यपि अभिलेखीय या अन्य ऐतिहासिक प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हुए, किन्तु आचार्य देवसेन, आ. जयसेन और श्रुतसागर सूरि के उल्लेख बतलाते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द विदेह गए थे..... सीमंधर स्वामी से प्राप्त दिव्यज्ञान का श्रमणों को उपदेश दिया था।"

-(तीर्थंकर महावीर और आचार्य परम्परा भाग-2, प्र.-105)

उपर्युक्त उल्लेख से भी यह स्पष्ट है कि उनका (कुन्दकुन्द) विदेहगमन शास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर सिद्ध नहीं होता।

अस्तु, इस विषय में शास्त्रीय प्रमाणों के उल्लेख अन्वेषणीय हैं। इस सन्दर्भ में ज्ञानवृद्ध पं. पद्मचन्द्र जी शास्त्री जी ने आ. देवसेन (नवमी शती) की गाथा के व्युत्पत्तिलभ्य शब्दार्थ के आधार से उनके निराधार जनश्रुति पर ऊहापोह किया है। जो गम्भीरता के साथ मननीय है। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि वे अपने गुरु भद्रबाहु को गमक गुरु के रूप में स्वीकार करते हैं। (बोधपाहुड, गाथा-61-62)

'गमक शब्द का अर्थ शब्द कल्पद्रुम में, 'गमयति, प्रापयति, बोधयति वा गमक' **गम + णिच् + ण्वल्** बोधक मात्र या सुझाव देने वाला अथवा तत्त्व प्राप्ति के लिए प्रेरणा करने वाला बताया गया है। अत: जिस प्रकार गमक शब्द परम्परा प्राप्त श्रुतकेवली के लिए व्यवहृत माना जाता है उसी प्रकार सीमंधर का अर्थ मर्यादा का पालन करने वाला ग्रहण करने से एक ओर शास्त्रीय सिद्धान्त की बाधा दूर हो जाती है तो दूसरी ओर आचार्य कुन्दकुन्द के बहुमान में भी अभिवृद्धि होती है। अत: आ. देवसेन के गाथागत अर्थ के विषय में प्रचलित अवधारणा **कुन्दकुन्द विदेह गए थे** के विषय में खुलासा होता है क्योंकि गाथा में मात्र सीमंधर स्वामी को द्योतित करने वाला पद है, विदेहगमन सूचक नहीं।

-सम्पादक

अहिंसा सिद्धान्त और व्यवहार

-डॉ. अशोक कुमार जैन

भारतीय संस्कृति अध्यात्म प्रधान संस्कृति है। अध्यात्म की आत्मा अहिंसा है। यद्यपि भारत के सभी धर्म और दर्शनों में किसी न किसी रूप में अहिंसा को महत्त्व दिया गया परन्तु जैन दर्शन में अहिंसा का जो व्यापक एवं सूक्ष्म वर्णन है वह अन्यत्र दुर्लभ है। जैन शास्त्रों में अहिंसा को भगवती और परम ब्रह्म कहा गया है। अहिंसा के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए अचार्य शिवार्य लिखते हैं-

जह पव्वदेसु मेरू उव्वाओ होइ सव्वलोयम्मि।
तह जाणासु उव्वायं सीलेसु वदेसु य अहिंसा।। 785।।

विश्व के अशेष पर्वतों में सुमेरू पर्वत तथा मनुष्यों में चक्रवर्ती बड़ा है उसी प्रकार समस्त व्रतों और शीलों में यह अहिंसा व्रत महान है।

सीलं वदं गुणो वा णाणं णिस्संगदा सुहच्चाओ।
जीवे हिंसंतस्स हु सव्वे वि णिरत्थया होंति।। 789

शील, व्रत, गुण, ज्ञान, निष्परिग्रहता और विषय सुख का त्याग ये सर्व आचार जीव हिंसा करने वाले के निष्फल हो जाते हैं।

सव्वेसिमासमाण हिदुयं गब्भो व सव्वसत्थाणं।
सव्वेसिं वदगुणाणं पिंडो सारो अहिंसा हु।। 790

यह अहिंसा सकल आश्रमों का हृदय है, सम्पूर्ण शास्त्रों का मर्म है और सब व्रतों का पिण्डरूप सार है।

जीववहो अप्पवहो जीवदया होइ अप्पणो हु दया।
विसकंटओव्व हिंसा परिहरियव्वा तदो होदि।। 794

अन्य जीवों का नाश करना अपना ही नाश करने के समान है। उन पर दया करना अपने ऊपर दया करने के समान है। अतः विषलिप्त कण्टक से जिस प्रकार लोग दूर रहते हैं उसी प्रकार संसार दुःख भीरुओं को हिंसा से बचना चाहिए।

सूत्रकृतांग में लिखा है-

एयं खु णाणिणो सारं, ज ण हिंसइ कंचणं।
अहिंसा समयं चेव, एयावतं वियाणिया।। प्रथम श्रुतस्कन्ध 1/85

ज्ञानी होने का यही सार है कि वह किसी की हिंसा नहीं करता। समता अहिंसा है, इतना ही उसे जानना है।

आचार्य ज्ञानसागर महाराज ने लिखा है-

अहिंसा वर्त्म सत्यस्य त्यागस्तस्याः परिस्थितिः।
सत्यानुयायिना तस्मात्संग्राह्यस्त्याग एव हि।। वीरोदय काव्य। 13/36

सत्य तत्त्व का मार्ग तो अहिंसा ही है और त्याग उसकी परिस्थिति है अर्थात् परिपालक है। अतएव सत्य मार्ग पर चलने वाले के लिए त्याग भाव ही संग्राह्य है अर्थात् आश्रय करने योग्य है।

संरक्षितुं प्राणभृतां महीं सा व्रजत्यतोऽम्बा जगतामहिंसा।
हिंसा मिथो भक्षितुमाह तस्मात्सर्वस्य शत्रुत्वमुपैत्यकस्मात्।।
वीरोदय काव्य 16/11

अहिंसा सर्व प्राणियों की संसार में रक्षा करती है, इसलिए वह माता कहलाती है। हिंसा परस्पर में खाने को कहती है और अकस्मात् (अकारण) ही सबसे शत्रुता उत्पन्न करती है, इसलिए वह राक्षसी है अतएव अहिंसा उपादेय है।

अहिंसा परिपालन का तात्विक आधार- जैन परम्परा में चारित्रिक उन्नयन पर विशेष बल दिया है चारित्र का नैश्चयिक दृष्टि से अर्थ है स्वयं का स्वयं में स्थिर होना अर्थात् समत्व भाव की प्राप्ति। समभाव आत्मौपम्य भाव पर

आधारित है। समयसार में लिखा है-

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा॥ 109॥

वास्तव में आत्मा अपना शुभ या अशुभ जैसा भी भाव करता है तो वह अपने भाव का करने वाला होता है और वह भाव ही उसका कर्म होता है तथा अपने भावरूप कर्म का ही भोक्ता होता है।

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
णाणिस्स दु णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स॥ समयसार-134

यह आत्मा जिस समय जैसा भाव करता है उस समय उसी भाव का कर्ता होता है, अतः ज्ञानी के ज्ञानमय और अज्ञानी (संसार) के अज्ञानमय भाव होता है।

भगवती आराधना में लिखा है-

अत्ता चेव अहिंसा अत्ता हिंसेति णिच्छओ समये।
जो होदि अप्पमत्तो अहिंसगो हिंसगो इदरो॥ 803॥

यथार्थ रूप से निश्चय नय से आत्मा ही स्वतः हिंसा है और आत्मा ही अहिंसा है। प्रमाद युक्त आत्मा-विकार भावयुक्त हिंसा रूप है और विकार रहित आत्मा अहिंसा है।

षट्खण्डागम पुस्तक 14 पृ.-90 में लिखा है-

स्वयं अहिंसा स्वयमेव हिंसनं न तत्पराधीनमिहद्वयं भवेत्।
प्रमादहीनोऽत्र भवत्यहिंसकः प्रमादयुक्तस्तु सदैव हिंसकः॥

अहिंसा भी स्वयं होती है और हिंसा भी स्वयं होती है। दोनो ही पराधीन नहीं है। जो प्रमादहीन है वह अहिंसक है और जो प्रमाद से युक्त है वह सदैव हिंसक है।

आत्मा और शरीर के कथंचित् भिन्नाभिन्नत्व की स्वीकृति में ही अहिंसा की परिपालना संभव है क्योंकि सर्वथा अपरिणामी नित्य जीव की तो हिंसा

नहीं की जा सकती और क्षणिक जीव का स्वयं ही नाश हो जाता है तब हिंसा कैसे संभव हो सकती है।

अहिंसा का मनोवैज्ञानिक आधार- आचारांग में लिखा है 'सव्वेसिं जीवियं पियं (अध्याय 2/64) अर्थात् सभी प्राणियों में जिजीविषा प्रधान है। सभी को सुख अनुकूल और दुःख प्रतिकूल है। भगवती आराधना में लिखा है-

जह ते ण पियं दुक्खं तहेव तेसिंपि जाण जीवाणं।
एवं णच्चा अप्पोवमिवो जीवेसु होदि सदा।। 777 ।।

हे क्षपक, जिस प्रकार तुम्हें दुःख प्रिय नहीं है वैसे ही अन्य जीवों को भी दुःख प्रिय नहीं है, ऐसा ज्ञात कर सर्व जीवों को आत्मा के समान समझकर दुःख से निवृत हो।

अस्तित्व और सुख की चाह प्राणीय स्वभाव है। जैन विचारकों ने इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य के आधार पर अहिंसा को स्थापित किया है। वस्तुतः अहिंसा जीवन के प्रति सम्मान, समत्वभाव एवं अद्वैत भाव है। समत्वभाव से सहानुभूति तथा अद्वैत भाव से आत्मीयता उत्पन्न होती है और इन्हीं से अहिंसा का विकास होता है।

अहिंसा के दो रूप- अहिंसा का शब्दानुसारी अर्थ है- हिंसा न करना। अ + हिंसा इन दो शब्दों से अहिंसा शब्द बना है। इसके पारिभाषिक अर्थ निषेधात्मक एवं विध्यात्मक दोनों हैं। राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति न करना। प्राण-वध न करना या प्रवृत्ति मात्र का निरोध करना निषेधात्मक अहिंसा है। सत् प्रवृत्ति करना, स्वाध्याय, अध्यात्म सेवा, उपदेश, ज्ञान-चर्चा आदि आत्मा की हितकारी क्रिया करना विध्यात्मक अहिंसा है। संयमी के द्वारा अशक्य कोटि का प्राणवध हो जाता है, वह भी निषेधात्मक अहिंसा है यानि हिंसा नहीं है। निषेधात्मक अहिंसा में केवल हिंसा का वर्जन होता है। विध्यात्मक अहिंसा में सत् क्रियात्मक सक्रियता होती है। यह स्थूल दृष्टि का निर्णय है। गहराई में पहुंचने पर बात कुछ और है। निषेध में प्रवृत्ति और प्रवृत्ति में निषेध होता ही है। निषेधात्मक अहिंसा में सत्-प्रवृत्ति और सत्प्रवृत्यात्मक अहिंसा में हिंसा का निषेध होता हैं हिंसा न करने वाला यदि आन्तरिक प्रवृत्तियों को शुद्ध न करे

तो वह अहिंसा न होगी। इसलिए निषेधात्मक अहिंसा में सत्प्रवृत्ति की अपेक्षा रहती है, वह बाह्य हो चाहे आन्तरिक, स्थूल हो चाहे सूक्ष्म। सत् प्रवृत्यात्मक अहिंसा में हिंसा का निषेध होना आवश्यक है। इसके बिना कोई प्रवृत्ति सत् या अहिंसा नहीं हो सकती, यह निश्चय दृष्टि की बात है। व्यवहार में निषेधात्मक अहिंसा को निष्क्रिय अहिंसा ओर विध्यात्मक अहिंसा को सक्रिय अहिंसा कहा जाता है।

हिंसा क्या है? - तत्त्वार्थ सूत्र में हिंसा को परिभाषित करते हुए लिखा है- '*प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा* अर्थात् प्रमाद के योग से प्राणों के विघात करने को हिंसा कहते है।

हिंसा की व्याख्या दों अंशों के द्वारा पूरी की गई है। पहला अंश है प्रमत्तयोग अर्थात् रागद्वेष युक्त अथवा असावधान प्रवृत्ति और दूसरा है प्राणवध। प्रथम अंश कारण रूप है और दूसरा कार्यरूप। इसका फलितार्थ यह है कि जो प्राणवध प्रमत्तयोग से हो वह हिंसा है।

वस्तुतः हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध पर जीवों के जीवन-मरण, सुख-दुःख से न होकर आत्मा में उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष, मोह परिणामों से है। पर जीवों के मरने-मारने का नाम जीव हिंसा नहीं वरन मारने के भाव का नाम हिंसा है। आचार्य अमृतचंद ने लिखा है-

यत्खलु कषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्यकरणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा॥

पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय श्लोक 43

जब मन में कषाय उद्‌बुद्ध होती है तो सर्वप्रथम शुद्धोपयोग रूप भाव प्राणों का घात होता है। यह प्रथम हिंसा है उसके पश्चात् कषाय की तीव्रता से दीर्घ श्वासोच्छ्वास हस्त-पाद आदि से अपने अंगोपांगों को कष्ट पहुंचाता है, यह द्वितीय हिंसा है। इसके बाद मर्मभेदी कुवचनों से लक्ष्यपुरुष के अन्तरंग मानस को पीड़ा पहुंचाई जाती है, यह तीसरी हिंसा है फिर तीव्र कषाय व प्रमाद से उस व्यक्ति के द्रव्य प्राणों को नष्ट करता है, यह चतुर्थ हिंसा है। इस तरह द्रव्य और भाव रूप प्राणों का घात करना हिंसा है।

सुप्रसिद्ध साहित्यकार यशपाल जैन नें लिखा है-

भाव हिंसा का विश्लेषण जैन दर्शन की अपनी विशेषता है। उसकी पर्याप्त गवेषणा करते हुए हिंसा के उद्योगी, विरोधी, आरम्भी और संकल्पी ये चार भेद बताकर, यह घोष किया है कि केवल संकल्पी हिंसा का त्याग कर देने पर मनुष्य 'अहिंसक' कहलाने का अधिकारी हो जाता है। यह एक ऐसी दृष्टि है जो 'कायरता' और 'पलायनवाद' जैसे लांछनों से मुक्त करके अहिंसा को समस्त मानवीय मूल्यों का आधार मानते हुए मानवता की धुरी के रूप में स्थापित करती है।

भाव अहिंसा का अर्थ है कि बहिरंग क्रिया तो दूर मन में भी हिंसा के भाव ही उत्पन्न नहीं हों। हत्या के साधन को जैसे शस्त्र कहा जाता है वैसे हिंसा के साधन को भी शस्त्र कहा गया है। हत्या हिंसा होती है, किन्तु हिंसा हत्या के बिना भी होती है। अविरति या असंयम जो वर्तमान में हत्या नहीं किन्तु हत्या की निवृत्ति नहीं है, इसलिए वह हिंसा है। हत्या के उपकरणों का नाम है द्रव्य शस्त्र और हिंसा के साधन का नाम है भाव शस्त्र। यह व्यक्ति का वैभाविक गुण है या दोष है इसलिए यह मृत्यु का कारण नहीं, पाप बन्ध का कारण है। द्रव्य-शस्त्र व्यक्ति से पृथक् वस्तु है। शस्त्र तीन प्रकार के होते है। 1. स्वकाय-शस्त्र, 2. परकाय शस्त्र, 3. उभयशस्त्र (स्वकाय और परकाय दोनों का संयोग) जीव के छः निकाय है। 1.पृथ्वी 2.पानी 3.अग्नि 4.वायु 5. वनस्पति और 6.त्रस।

पृथ्वी द्वारा पृथ्वी का उपघात-यह स्वकाय शस्त्र है।

पृथ्वी से इतर वस्तु द्वारा पृथ्वी का प्रतिघात-यह परकाय शस्त्र है।

पृथ्वी और उससे भिन्न वस्तु दोनों द्वारा पृथ्वी का उपघात यह उभय शस्त्र है।

प्रवृत्ति-निवृत्ति का समन्वय - सम्पूर्ण अहिंसा- प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों में अहिंसा समाहित है। जो केवल निवृत्ति को प्रधान मानकर चिन्तन करती है, वह अहिंसा की आत्मा को परख नहीं सकता। प्रवृत्ति रहित निवृत्ति निष्क्रिय है। वह जीवन का अभिशाप है। जैन श्रमण के उत्तर गुणों में समिति और गुप्ति का विधान है। समिति प्रवृत्ति परक है तो गुप्ति निवृत्ति परक हैं।

असद् आचरण से निवृत्त होकर सदाचरण में प्रवृत्ति करना ही अहिंसा का वास्तविक रूप है।

प्रज्ञामूर्ति पं. सुखलालजी ने लिखा है "अशोक के राज्यकाल का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उनके व्यवहार में निवर्त्तक कार्यो के साथ प्रवर्तक कार्यो पर बल दिया गया था। हिंसा निवृत्ति के साथ-साथ धर्मशालायें बनवाना, पानी पिलाना, पेड़ लगाना आदि परोपकार के कार्य भी हुए है। अशोक ने प्रचार किया कि हिंसा न करना तो ठीक है, पर दया-धर्म भी करना उचित है...। व्यक्ति स्वयं दूसरों को कष्ट न दें, किन्तु रास्ते में कोई घायल या भिखारी पड़ा है तो उससे बचकर निकल जाने से अहिंसा की पूर्ति नहीं होगी। किन्तु उसे क्या पीड़ा है? क्यों है? उसे क्या मदद ही जाय? इसकी जानकारी और उपाय किये बिना अहिंसा अधूरी है। अहिंसा केवल निवृत्ति में ही चरितार्थ नहीं होती। इसका विचार निवृत्ति में से हुआ है किन्तु उसकी कृतार्थता प्रवृत्ति में ही हो सकती है।

अनुकम्पा-

पंडित प्रवर आशाधर जी ने लिखा है-

यस्य जीवदया नास्ति तस्य सच्चरितं कुतः।
न हि भूतद्रुहां कापि क्रिया श्रेयस्करी भवेत्।। धर्मामृत (अनगार) 4/6

जिसकी प्राणियों पर दया नहीं है उसके समीचीन चारित्र कैसे हो सकता है? क्योंकि जीवों को मारने वाले की देवपूजा, दान, स्वाध्याय आदि कोई भी क्रिया कल्याणकारी नहीं होती।

विश्वसन्ति रिपवोऽपि दयालोः विजसन्ति सुहृदोऽप्यदयाच्च।
प्राणसंशयपदं हि विहाय स्वार्थमीप्सति ननु स्तनपोऽपि।।
धर्मामृत (अनगार 4/10)

दयालु का शत्रु भी विश्वास करते हैं और दयाहीन से मित्र भी डरते हैं। ठीक ही है दूध पीता शिशु भी, जहाँ प्राण जाने का सन्देह होता है ऐसे स्थान से बचकर ही इष्ट वस्तु को प्राप्त करना चाहता है।

समस्त जीवों में दयाभाव रखना अनुकम्पा गुण है। व्यवहार में धर्म का लक्षण जीवरक्षा है। जीवरक्षा से सभी प्रकार के पापों का निरोध होता है। दया के समान कोई भी धर्म नहीं है। अतः पहले आत्मा स्वरूप को अवगत करना और तत्पश्चात् जीव-दया में प्रवृत्त होना धर्म है। जिस प्रकार हमें अपनी आत्मा प्रिय है उसी प्रकार अन्य प्राणियों को भी प्रिय है। जो व्यवहार हमें अरुचिकर प्रतीत होता है, वह दूसरे प्राणियों को भी अरुचिकर प्रतीत होता है अतः समस्त परिस्थितियों में अपने को देखने से पापों का निरोध तो होता ही है, साथ ही अनुकम्पा की भी प्रवृत्ति जागृत होती है। अनुकम्पा या दया के आठ भेद हैं-

1. द्रव्य दया- अपने समान अन्य प्राणियों का भी पूरा ध्यान रखना और उनके साथ अहिंसक व्यवहार करना।
2. भाव दया- अन्य प्राणियों को अशुभ कार्य करते हुए देखकर अनुकम्पा बुद्धि से उपदेश देना।
3. स्वदया- आत्मालोचन करना एवं सम्यग्दर्शन धारण करने के लिए प्रयासशील रहना और अपने भीतर रागादिक विकार उत्पन्न न होने देना।
4. परदया- षट्काय के जीवों की रक्षा करना।
5. स्वरूपदया- सूक्ष्म विवेक द्वारा अपने स्वरूप का विचार करना, आत्मा के ऊपर कर्मों का जो आवरण है उसे दूर करना
6. अनुबन्धदया- मित्रों, शिष्यों या अन्य प्राणियों को हित की प्रेरणा से उपदेश देना तथा कुमार्ग से सुमार्ग पर लाना।
7. व्यवहार दया- उपयोग पूर्वक और विधि पूर्वक अन्य प्राणियों की सुख-सुविधाओं का पूरा-पूरा ध्यान रखना।
8. निश्चय दया- शुद्धोपयोग में एकता भाव और अभेद उपयोग का होना। समस्त पर पदार्थों से उपयोग हटाकर आत्म परिणति में लीन होना निश्चय दया है।

जैन मतानुसार जीव छह प्रकार के होते हैं जिन्हें षट्काय कहते हैं। पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय तथा त्रसकाय, वनस्पतिकाय तथा त्रसकाय जीवधारी होते हैं, इस बात को सामान्य तौर से सभी मत वाले मानते है, लेकिन पृथ्वी, अप्-अग्नि तथा वायु भी स्वतः प्राणवान् हैं ऐसा सिर्फ जैनधर्म ही मानता है। यह इसकी अपनी विशेषता है। इन षट्कायों की हिंसा विभिन्न कारणों से होती है जैसे पृथ्वीकाय की हिंसा पृथ्वी जोतने, तालाब, बावड़ी खुदवाने, महल बनवाने आदि से होती है। अप्काय की हिंसा स्नान करने, पानी पीने, कपड़े धोने आदि से होती है। भोजन पकाना, लकड़ी जलाना आदि से अग्निकाय की हिंसा होती है। सूप से अन्नादि साफ करना, ताल के पंख या मोरपंख से हवा करना आदि वायुकाय की हिंसा के कारण है। घर बनाना, बाड़ बनाना, विविध प्रकार के भवन बनाना, नौका, हल, शकट आदि बनाना वनस्पतिकाय की हिंसा के कारण है। इसी प्रकार धर्म, अर्थ, काम के कारण विभिन्न त्रस प्राणियों की हिंसा होती है। प्रवचनसार में लिखा है कि

यदाचारो समणो छस्सु वि कायेषु वधकरो ति मदो
चरदि जदं जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवतेवो॥

जिसके यत्नपूर्वक आचार क्रिया नहीं ऐसा जो मुनि वह छहों पृथ्वी आदि कायों में बन्ध का करने वाला है ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है। यदि यति सदा यत्नपूर्वक आचरण करता है तो वह मुनि जल में कमल की तरह कर्मबन्ध रूप लेप से रहित है।

अहिंसा रक्षण के उपाय- अहिंसा रक्षण के उपायों की चर्चा करते हुए भगवती आराधना में लिखा है कि

जं जीवणिकायवहेण विणा इंदयकयं सुहं णत्थ।
तम्हि सुहे णिस्सगो तम्हा सो रक्खदि अहिंसा॥ 816

जीव-हिंसा के अभाव में इन्द्रिय सुख की उपलब्धि (प्राप्ति) नहीं हो सकती है। स्त्री संभोग, वस्त्र धारण, पुष्पमालादि ग्रहण-धारणादि कार्य हिंसात्मक वृत्ति से ही होते हैं। इन पदार्थों की प्राप्ति करने में भी महान् आरम्भ करना

पड़ता है। इसलिए इन्द्रिय विषयों से कभी भी अहिंसा का रक्षण नहीं हो सकता है। हे क्षपक! तू इन विषय-जन्य सुखों में इच्छा मत कर। जो पंचेन्द्रिय विषयों से सर्वथा विरक्त होता है वही जीव क्षपक अहिंसा व्रत का निर्दोष पालन करने में समर्थ होता है।

जीवो कसायबहुलो संतो जीवाण घायणं कुणइ।
सो-जीववहं परिहरदु सया जो णिज्जियकसाओ।।

भगवती आराधना 817

कषायाविष्ट जीव मनुष्य जीवों का घात करता है किन्तु जो कषायों पर विजय पाता है वही अहिंसा का निर्दोष पालन करता है। अत: अहिंसाव्रत के अभिलाषियों को इन कषाय शत्रुओं का दूर से ही त्याग करना चाहिए।

काएसु णिरारंभे फासुगभोजिम्मि णाणहिदयम्मि।
मणवयणकायगुत्तिम्मि होइ सयला अहिंसा हु।।

भगवती आराधना 819

जो यतिराज आरम्भ का सर्वथा त्याग करते हैं, सतत ज्ञानाभ्यास में तत्पर रहते हैं, स्वाध्याय में स्थिर चित्त रहते हैं, गुप्तियों को धारण करते हैं उन्हीं के यह अहिंसा व्रत पूर्णता को प्राप्त होता हैं

आरंभे जीववहो अप्पासुगसेवणे य अणुमोदो।
आरंभादीसु मणो णाणरदीए विणा चरेइ।। भगवती आराधना।। 820

जमीन खोदना, पानी गिराना, वृक्ष तोड़ना आदि क्रिया में आरम्भ है। इस आरम्भ से पृथिव्यादि कायिक जीवों का घात होता है। उद्गमादि दोषों से दूषित आहार लेने से, जीव बधादि को अनुमति दी है ऐसा सिद्ध होता है। ज्ञानाभ्यास में यदि प्रेम नहीं है तो आत्मा कषाय और आरम्भ में प्रवृत्त होता है।''

पण्डितप्रवर आशाधरजी ने लिखा है-

कषायोद्देकतो योगे: कृतकारितसम्मतान्।
स्यात् संरम्भ-समारम्भारम्भानुज्झन्न हिंसक:।। (धर्मामृत-अनगार 4/27)

क्रोध आदि कषायों के उदय से मन, वचन, काय से कृत कारित

अनुमोदना से युक्त संरम्भ समारम्भ और आरम्भ को छोड़ने वाला अहिंसक होता है।

प्राणों के घात आदि में प्रमादयुक्त होकर जो प्रयत्न किया जाता है उसे संरम्भ कहते है। साध्यय हिंसा आदि क्रिया के साधनों का अभ्यास करना समारम्भ है। एकत्र किये गये हिंसा आदि साधनों का प्रथम प्रयोग आरम्भ है। क्रोध के आवेश से काय से करना, कराना और अनुमोदना करना इस तरह संरम्भ के तीन भेद हैं। इसी तरह मान माया व लोभ के आवेश से तीन तीन भेद होते है। वचन और काय के भी 36,36 भेद होने से 108 भेद होते है।

अहिंसाव्रती के लिए जीवन निर्माण की दृष्टि से निम्न कर्तव्य हैं-

1. जीवन को सादा बनाना और आवश्यकताओं को कम करना।
2. मानवीय वृत्ति में अज्ञान की चाहे जितनी गुंजाइश हो लेकिन पुरुषार्थ के अनुसार ज्ञान का भी स्थान है ही, इसलिए प्रतिक्षण सावधान रहना और कहीं भूल न हो जाय इसका ध्यान रखना और यदि भूल हो जाय तो वह ध्यान से ओझल न हो सके, ऐसी दृष्टि रखना।
3. आवश्यकताओं को कम करने और सावधान रहने का लक्ष्य रहने पर भी चित्त के मूल दोष जैसे स्थूल जीवन की तृष्णा और उसके कारण पैदा होने वाले दूसरे रागद्वेषादि दोषों को कम करने का सतत प्रयत्न करना।
4. सभी प्राणियों के प्रति मैत्री भाव रखना।
5. आजीविका के निमित्त ऐसे व्यवसाय कार्य न करें जिसमें हिंसा होती है।
6. संकल्प पूर्वक किसी प्राणी को पीड़ा देने या वध न करने का नियम लेना। उत्तराध्ययन में लिखा है-

एवं ससंकप्पविकप्पणासुं, संजायई समयमुवट्ठियस्स।
अतये य संकप्पयओ तओ से, पहीयए कामगुणेसुतण्हा।।

(उत्तराध्ययन 32/107)

अपने राग-द्वेषात्मक संकल्प ही सब दोषों के मूल हैं''

जो इस प्रकार चिन्तन में उद्यत होता है तथा 'इन्द्रिय विषय दोषों के मूल नहीं हैं' इस प्रकार का संकल्प करता है उसके मन में समता उत्पन्न होती है। उससे उसकी काय गुणों में होने वाली तृष्णा प्रक्षीण हो जाती है।

7. अनावश्यक हिंसा की प्रवृत्ति पर संयम रखें।
8. अहिंसा का आराधक इन्द्रिय विषयों के प्रति विरक्त रहे। उनका वेदन-आस्वादन न करें।
9. अहिंसा का आराधक लोकैषणा न करे क्योंकि लोकैषणा से हिंसा में प्रवृत्ति होती है।
10. जीवन की सार्थकता के लिए अणुव्रत का परिपालन करें।
11. अहिंसा का आराधक व्यसन सेवन से बचे।
12. जीवन में प्रमाद-भाव का परित्याग करे।

आज के समाज की व्यथा की यदि किसी एक शब्द से व्याख्या हो सकती है तो वह है हिंसा। आणविक अस्त्रों का संत्रास, परिवेश के मिल जाने का भय, शक्तिशाली राष्ट्र एवं समाज द्वारा शोषण की पीड़ा, दरिद्रता, मानसिक-शारीरिक निर्बलता ये सब हिंसा को व्यक्त करती है और विश्व भयाक्रान्त है कि कहीं मनुष्य का अस्तित्व ही निकट भविष्य में न समाप्त हो जाये। इस विभीषिका का एक ही समाधान है और वह है- अहिंसा का सिद्धान्त। आचार धर्म का मूल अहिंसा है। समग्र आचार धर्म उसी सिद्धान्त के पल्लवन हैं।

-विभागाध्यक्ष
जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म दर्शन विभाग
जैन विश्व भारती संस्थान,
(मान्य विश्व विद्यालय)
लाडनूं (राजस्थान)-341306

श्रावक और अणुव्रत

-डॉ. जयकुमार जैन

श्रावक शब्द की व्युत्पत्ति एवं निर्वचन :- 'शृणोति गुर्वादिभ्यो धर्ममिति श्रावकः' अर्थात् जो गुरु आदि से धर्म को सुनता है, वह श्रावक है।[1] श्रावक शब्द का यह व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है, जो यह सूचित करता है कि श्रावक में धर्म के प्रति श्रद्धा का होना आवश्यक है। अभिधान राजेन्द्र कोष में 'शृणोति जिनवचनमिति श्रावकः' कहकर जिनेन्द्र भगवान् की वाणी को श्रद्धापूर्वक श्रवण करने वाले को श्रावक कहा गया है।[2] श्वेताम्बर ग्रन्थ गच्छाचारपयन्ना टीका में साधु के समीप में साधु की सामाचारी को सुनने वाले की श्रावक संज्ञा की गई है- 'शृणोति साधुसमीपे साधुसामाचारीमिति श्रावकः।[3] अन्यत्र श्रावक का लक्षण करते हुए कहा गया है-

'अवाप्तदृष्ट्यादि विशुद्धसम्पत् परं समाचारमनुप्रभातम्।
शृणोति यः साधुजनादतन्द्रस्तं श्रावकं प्राहुरमी जिनेन्द्राः॥

अर्थात् सम्यक् श्रद्धान रूपी सम्पत्ति को प्राप्त कर लेने वाला जो व्यक्ति प्रमाद रहित होकर साधुजनों से समाचार विधि को सुनता है, उसे जिनेन्द्र भगवन्तों ने श्रावक कहा है। श्रावक शब्द का निर्वचन करते हुए श्र को श्रद्धा का, व को गुणवपन का तथा क को कर्मरज के विक्षेप का प्रतीक कहा गया है- 'श्रन्ति पचन्ति तत्त्वार्थश्रद्धानं निष्ठां नयन्तीति श्राः, तथा वपन्ति गुणवतसप्तक्षेत्रेषु धनबीजानि निक्षिपन्तीति वाः, तथा किरन्ति क्लिष्टकर्मरजो विक्षिपन्तीति काः, ततः कर्मधारये श्रावका इति भवति।'[4] अर्थात् श्रा शब्द तो तत्त्वार्थ-श्रद्धान की सूचना करता है, व शब्द सप्त धर्मक्षेत्रों में धन रूप बीज बोने की प्रेरणा करता है तथा क शब्द क्लिष्ट कर्म या महान् पापों को दूर करने का संकेत करता है। इस प्रकार कर्मधारय समास करने पर श्रावक पद निष्पन्न हो जाता है।

अन्य नाम :- श्रद्धावान् गृहस्थ को भिन्न भिन्न स्थानों पर श्रावक, उपासक, आगारी, देशव्रती, देशसंयमी आदि नामों से उल्लिखित किया गया है। यद्यपि यौगिक दृष्टि से इन नामों के अर्थों में अन्तर है, तथापि सागान्यतः ये एकार्थक या पर्यायवाची माने जाते हैं। देशव्रती या देशसंयमी पञ्चमगुणस्थानवर्ती श्रावक की ही संज्ञा हो सकती है, चतुर्थ गुणस्थानवर्ती की नहीं।

श्रावक के भेद :- श्रावक तीन प्रकार के होते हैं- पाक्षिक, नैष्ठिक एवं साधक। अपने धर्म का पक्ष मात्र करने वाला श्रावक पाक्षिक तथा व्रतधारी श्रावक नैष्ठिक कहलाता है। नैष्ठिक श्रावक वैराग्य की प्रकर्षता से शाक्ति को न छिपाता हुआ उत्तरोत्तर 11 प्रतिमाओं में ऊपर-ऊपर उठता जाता है। अन्तिम प्रतिमा में इसका रूप साधु से कुछ न्यून रहता है। ग्यारहवीं प्रमिाधारी उत्कृष्ट श्रावक के भी दो भेद हैं- एक वस्त्र रखने वाला क्षुल्लक और कौपीन मात्र परिग्रह धारी ऐलक।[5] जो श्रावक आनन्दित होता हुआ जीवन के अन्त में अर्थात् मरण के समय भोजन एवं योगव्यापार के त्याग से पवित्र ध्यान के द्वारा आत्मशुद्धि की साधना करता है, वह साधक श्रावक कहा जाता है।[6] कुछ आचार्यों ने सल्लेखना या समाधिमरण को श्रावक के 12 व्रतों में परिगणित किया है तो कुछ आचार्यों ने उसका पृथक् उल्लेख करके सभी श्रावकों को उनकी आवश्कता प्रतिपादित की है। समाधिमरण करने वाले श्रावक को ही आत्मसाधना के कारण साधक संज्ञा प्राप्त हुई है।

पाक्षिक श्रावक यद्यपि अणुव्रती (देशव्रती या देशसंयमी) नही होता है तथापि उसे सर्वथा अव्रती मानना ठीक नही है। क्योंकि जिनवचन पर श्रद्धावान् होने के कारण वह कुल परम्परा से चलीं आई क्रियाओं का पालन तो करता ही है, व्रत धारण करने का पक्ष भी रखता है।

श्रावक के मूलगुण :- श्रावक के धर्माचिरण के आधारभूत मुख्य गुणों को मूलगुण कहा जाता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य, स्वामी कार्तिकेय तथा आचार्य उमास्वामी ने अपने ग्रन्थों में श्रावक के मूलगुणों की कोई चर्चा नही की है। आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में व्रतों के अतिचारों एवं भावनाओं का तो पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है किन्तु मूलगुणों एवं ग्यारह प्रतिमाओं का जिक्र

तक नहीं किया है- यह एक विचारणीय विषय है। सर्वप्रथम श्रावक के मूलगुणों का उल्लेख श्री समन्तभद्राचार्यकृत रत्नकरण्डश्रावकाचार में हुआ है। वहाँ मद्य, मांस एवं मधु के त्याग के साथ पाँच अणुव्रतों के पालन को आठ मूलगुण कहा गया है।[7] चारित्रसार में उद्धृत एक श्लोक में आचार्य जिनसेन की दृष्टि में मद्य, मांस एवं जुआ के त्यागपूर्वक पाँच अणुव्रतों के पालन को आठ मूलगुण कहा गया है।[8] पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में आचार्य अमृतचन्द्र ने पाँच अणुव्रतों के स्थान पर पाँच उदुम्बर फलों का उल्लेख किया है।[9] सागार-धर्मामृत में कुछ लोगों के मत में पाँच उदुम्बर फल त्याग को एक मूल गुण मानकर रात्रिभोजन त्याग, देववन्दना, जीवदया तथा जलगालन को मूलगुणों में समाविष्ट किया गया है।[10] आचार्य सोमदेव, पद्मनन्दि, पं. आशाधर, भट्टारक सकलकीर्ति आदि मूलगुणों के विषय में पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के प्रणेता अमृतचन्द्राचार्य के अनुगामी हैं।

श्रावक के मूलगुणों के विवेचन में आचार्यों की दृष्टियाँ भिन्न-भिन्न हैं। श्री जुगल किशोर मुख्तार ने लिखा है कि "सकलव्रती मुनियों के मूल गुणों में जिस प्रकार पञ्च महाव्रतों का होना जरूरी है, उसी प्रकार देशव्रती श्रावकों के मूलगुणों में पञ्चाणुव्रतों का होना जरूरी मालूम होता है। देशव्रती श्रावकों को लक्ष्य करके आचार्य महोदय ने इन मूलगुणों की सृष्टि की है। पञ्च उदुम्बर वाले मूलगुण प्रायः बालकों, अव्रतियों अथवा अनभ्यस्त देशसंयमियों को लक्ष्य करके लिखे गये हैं"।[11] आदरणीय मुख्तार जी का यह कथन ध्यातव्य है।

श्रावक के व्रत :- जीवनपर्यन्त हिंसा आदि पाँच पापों से एकदेश या सर्वदेश निवृत्ति को व्रत कहते हैं। यह व्रत दो प्रकार का है- एकदेश व्रत या अणुव्रत तथा सर्वदेश व्रत या महाव्रत। अणुव्रत श्रावकों के लिए तथा महाव्रत साधुओं के लिए हैं। सवार्थ सिद्धि में आचार्य पूज्यपाद ने कहा है कि प्रतिज्ञा करके जो नियम लिया जाता है, वह व्रत है। यह करने योग्य है, यह नहीं करने योग्य है- इस प्रकार नियम करना व्रत है।[12] व्रत शब्द विरति के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है तथा प्रवृत्ति (वृतु वर्तने धातु से निष्पन्न होने के कारण) के अर्थ में

भी। इसीलिए पण्डितप्रवर आशाधर जी ने व्रत का स्वरूप कहते हुए लिखा है कि किन्हीं पदार्थों के सेवन का अथवा हिंसादि अशुभ कर्मों का नियत या अनियत काल के लिए संकल्पपूर्वक त्याग करना व्रत है। अथवा पात्रदान आदि शुभ कर्मों में उसी प्रकार संकल्पपूर्वक प्रवृत्ति करना व्रत है।[13] इस कथन में व्रत में पाप से निवृत्ति तथा शुभ में प्रवृत्ति दोनों स्वीकार की गई है।

श्रावक के व्रत बारह प्रकार के कहे गये हैं- पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। श्वेताम्बर परम्परा में पाँच अणुव्रतों को मूल व्रत तथा शेष सात को उत्तर व्रत कहा गया है।[14]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि श्रावक के मूल गुणों में तथा व्रतों में पाँच अणुव्रतों का महत्त्व सर्वातिशायी है। यह श्रावक की एक आदर्श आचार संहिता है।

अणुव्रत :- पञ्च पापों के एकदेश त्याग रूप पाँच व्रत अणुव्रत कहलाते हैं। स्थूल हिंसा त्याग, मृषात्याग, अदत्तग्रहण त्याग, परस्त्री त्याग तथा बहुत आरंभ परिग्रह का परिमाण ये पाँच अणुव्रत हैं। अणुव्रत में अणु शब्द अल्पवाची है। जिसके व्रत अणु अर्थात् अल्प हैं, वह अणुव्रत वाला अगारी कहलाता है। अगारी के पूर्ण हिंसादि पापों का त्याग संभव नही है, इसलिए उसके व्रत अल्प कहे जाते हैं। वह केवल त्रस हिंसा का त्यागी होता है, वह गृहविनाश आदि के कारणभूत असत्य वचन का त्यागी होता है, वह बिना दी गई वस्तु को ग्रहण नही करता है, परस्त्री के प्रति उसकी रति हट जाती है तथा वह धन-धान्यादि का स्वेच्छा से परिमाण करता है।[15] पाँचों पापों का उसका अल्प त्याग होता है, अतः वह अणुव्रती कहलाता है।

अणुव्रतों की लघुता महाव्रतों की अपेक्षा कही गई है। अथवा सर्वविरत की अपेक्षा कम गुण वालों के व्रतों को अणुव्रत कहा गया है।[16]

अणुव्रत के भेद :- पाँच पापों से एकदेश विरक्ति रूप होने के कारण अणुव्रत के पाँच भेद हैं- अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अस्तेय या अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणाणुव्रत।

इन पाँच अणुव्रतों के अतिरिक्त चारित्रसार में रात्रिभोजन त्याग को छठा अणुव्रत कहा गया है।[17] पाक्षिक प्रतिक्रमण पाठ में भी कहा गया है कि मैं छठे अणुव्रत में रात्रि भोजन का त्याग करता हूँ। श्री ब्रह्म नेमिदत्त ने भी अपने धर्मोपदेश पीयूष वर्ष श्रावकाचार में रात्रिभोजन त्याग को छठा अणुव्रत स्वीकार किया है।[18] इनकी यह मान्यता चारित्रसार के प्रणेता चामुण्डराय के ही समान है।

1. अहिंसाणुव्रत :- प्रमाद के योग अर्थात् राग-द्वेष रूप प्रवृत्ति के कारण अपने अथवा दूसरों के प्राणों के व्यपरोपण अर्थात् पीडन और विनाशन को हिंसा कहते हैं। स्थूल हिंसा से विरक्त होना अहिंसाणुव्रत है। वसुनन्दि श्रावकाचार में त्रस जीवों की हिंसा के सर्वथा त्याग तथा निष्प्रयोजन स्थावर जीवों की हिंसा के त्याग को अहिंसाणुव्रत कहा है।[19] आरंभी, उद्योगी, विरोधी एवं संकल्पी हिंसा में से गृहस्थ संकल्पी हिंसा का तो त्यागी होता है। शेष मे यथासंभव यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करता है। यदि यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति न करे तो अन्य हिंसा भी संकल्पी ही मानी जावेगी। श्री जयसेनरचित धर्मरत्नाकर में तथा पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय के एक श्लोक कहा गया है कि अहिंसामय धर्म के स्वरूप को सुनते हुए भी जो जीव स्थावर हिंसा को छोड़ने में असमर्थ हों, उन्हें त्रसहिंसा का त्याग तो करना ही चाहिए।[20]

अहिंसाणुव्रत के अतिचार :- धारण किये गये व्रत में दोष लगने का नाम अतिचार है। आचार्य उमास्वामी ने प्राणीबंधन, प्राणीताडन, अंगच्छेद, अतिभारारोपण तथा अन्नपान निरोध ये अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार माने हैं।[21] श्रावक को इनसे बचने का सतत प्रयास करना चाहिए, क्योंकि इनसे व्रत में मलिनता आती है।

अहिंसाणुव्रत की भावनायें :- वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपण समिति तथा आलोकितपान भोजन यें पाँच अहिंसा व्रत की भावनायें हैं।[22] इनके आने से व्रत का पालन ठीक प्रकार से होता है। श्रावक को निरन्तर यह विचार करना चाहिए कि हिंसादि पापों से इस लोक और परलोक में आपत्तियाँ प्राप्त होती हैं। ये पाप दु:ख रूप ही है। अत: इनका त्याग कर देना ही योग्य है। सोमदेव सूरि ने यशस्तिलकचम्पूगत उपासकाध्ययन में कहा कि अणुव्रती

को अहिंसाव्रत की रक्षार्थ रात्रि भोजन त्याग और अभक्ष्य भक्षण का त्याग आवश्यक है।[23]

2. सत्याणुव्रत :- प्रमाद के कारण जीवों को पीडादायक गर्हित वचन बोलना असत्य पाप है। सत्याणुव्रती ऐसे असत्य का त्यागी होता है। धर्मरत्नाकर में कहा गया है कि जिस कथन से अविश्वास उत्पन्न होता है, दण्ड भोगना पड़ता है और निरपराधी मनुष्य को सन्ताप उत्पन्न होता है ऐसे अप्रशस्त वचन रूप असत्य का निर्मल बुद्धि वाले मनुष्य को दूर से ही परित्याग कर देना चाहिए।[24] समन्तभद्राचार्य ने सत्याणुव्रत का लक्षण बताते हुए कहा है कि स्थूल झूठ जो न तो स्वयं बोलता है, न दूसरों से बुलवाता है तथा जिस वचन से विपत्ति आती हो ऐसा वचन न आप बोले न दूसरों से बुलवावे उसे सज्जन सत्याणुव्रत कहते हैं।[25]

सत्याणुव्रत के अतिचार :- मिथ्योपदेश (झूठा एवं अहितकारी उपदेश), रहोभ्याख्यान (एकान्त की स्त्री-पुरुष की क्रिया का प्रकट करना), कूटलेख क्रिया (दबाववश झूठी लिखापढ़ी), न्यासापहार (धरोहर भूल जाने पर न देना या कम मागने पर कम देना) तथा साकार मन्त्र भेद (आकृति से पराभिप्राय जानकर प्रकट कर देना) ये पाँच सत्य व्रत के अतिचार हैं।[26]

सत्याणुव्रत की भावनायें :- सत्याणुव्रत की रक्षा के लिए श्रावक को क्रोध, लोभ, भय एवं हास्य का त्याग तथा शास्त्रानुकूल निर्दोष वचन बोलने की भावना भाना चाहिए।[27]

3. अचौर्याणुव्रत :- बिना दी हुई वस्तु का लेना चोरी है। इसका अभिप्राय यह है कि बाह्यवस्तु के ग्रहण करने के संक्लेश परिणामों का नाम चोरी है, भले ही वस्तु ग्रहण हो या न हो।[28] स्थूल चोरी का त्याग अचौर्याणुव्रत है। समन्तभद्राचार्य का कहना है कि रखे हुए, गिरे हुए अथवा भूले हुए या धरोहर रखे गये पर द्रव्य को हरण न करना, न दूसरों को देना अचौर्याणुव्रत है।[29] स्वामी कार्तिकेय के अनुसार वह अचौर्याणुव्रती है जो बहुमूल्य वस्तु को अल्पमूल्य में नहीं लेता हे, दूसरों की छूटी हुई वस्तु को नहीं उठाता है, थोड़े

से लाभ से ही संतुष्ट रहता है, क्रोध, मान, लोभ तथा कपट से पर द्रव्य का हरण नहीं करता है।[30]

अचौर्याणुव्रत के अतिचार :- चोरी करने के उपाय बताना, चोरी का माल खरीदना, राजा के नियमों के विरुद्ध कार्य करना, माप-तौल कमती-बढ़ती रखना तथा मिलावट करना ये पाँच अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं।[31] पण्डितप्रवर आशाधर ने विरुद्धराज्यातिक्रम के स्थान पर 'युद्ध के समय पदार्थों का संग्रह करना' अतिचार में परिगणित किया है।

अचौर्याणुव्रत की भावनायें :- निर्जन स्थान पर रहना, दूसरों द्वारा परित्यक्त स्थान पर रहना, जहाँ ठहरे हों वहाँ दूसरों को आने से न रोकना, शास्त्रानुसार भिक्षा में शुद्धि रखना तथा साधर्मियों से विसंवाद न करना ये पाँच अचौर्याणुव्रत की भावनायें हैं।[32] ये भावनायें आचार्य उमास्वामी ने मुख्यत: महाव्रतियों को कहीं जान पड़ती हैं। परन्तु सधर्माविसंवाद भावना श्रावकों में भी घटित हो सकती है। पूजन के बर्तन, धोती-दुपट्टा, बैठने के स्थान आदि के विषय में झगड़ने का भाव न रखना सधर्माविसंवाद भावना है। आचार्य पूज्यपाद का कहना है कि पर द्रव्य का अपहरण करने वाले चोर का सभी तिरस्कार करते हैं। इस लोक में वह ताडन, मारण, बन्धन, छेदन, भेदन और सर्वस्व हरण आदि दु:खों को भोगता है तथा परलोक में अशुभ गति को प्राप्त करता है। अत: चोरी का त्याग करना ही कल्याणकारी है। श्रावक को ऐसी भावना का चिन्तन करना चाहिए।[33]

4. ब्रह्मचर्याणुव्रत :- चारित्रमोहनीय कर्म के उदय में सजातीय या विजातीय मिथुन की स्पर्शनादि क्रियायें अब्रह्म हैं और इनका त्याग ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्याणुव्रत का वर्णन करते हुए रत्नकरण्ड-श्रावकाचार में कहा गया है कि जो पाप के भय से न तो परस्त्री के प्रति गमन करे और न दूसरों को गमन करावे वह परस्त्री त्याग एवं स्वस्त्री संतोष नामक ब्रह्मचर्याणुव्रत है।[34] आचार्य वसुनन्दि का कहना है कि अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व के दिनों में स्त्री सेवन तथा सदैव अनङ्ग.क्रीडा का त्याग करने वाले को भगवान् ने स्थूल ब्रह्मचारी कहा है।[35] स्वामी कार्तिकेय के अनुसार जो स्त्री के शरीर को अशुचिमय और

दुर्गन्धित जानकर उसके रूप-लावण्य को भी मन में मोह पैदा करने वाला मानता है तथा मन-वचन-काय से पराई स्त्री को माता, बहिन और पुत्री के समान समझता है, वह श्रावक स्थूल ब्रह्मचर्य का धारी है।[36] अमृतचन्द्राचार्य का कहना है कि जो जीव मोह के कारण अपनी विवाहिता स्त्री को छोड़ने में असमर्थ हैं, उन्हें भी शेष सर्व स्त्री के सेवन को त्याग देना चाहिए।[37]

ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार :- दूसरों के पुत्र-पुत्रियों का विवाह कराना, पतिरहित स्त्री (अनाथ, कुमारी या वेश्या) के यहाँ जाना, विवाहिता व्यभिचारिणी स्त्री के यहाँ जाना, काम सेवन के अंगों से भिन्न अंगों से काम सेवन करना तथा काम सेवन की तीव्र लालसा रखना ये पाँच उमास्वामी के अनुसार ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार हैं।[38] ब्रह्मचर्याणुव्रत के इन अतिचारों में इत्वरिकापरिग्रहीता गमन एवं इत्वरिका अपरिग्रहीतागमन रूप दूसरे एवं तीसरे अतिचार में कोई विशेष अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता है। क्योंकि स्वदार सन्तोषी के लिए तो दोनों ही परस्त्री हैं। इसी कारण समन्तभद्राचार्य ने इन दोनों के स्थान पर एक इत्वरिकागमन को रखकर विटत्व नामक एक अन्य अतिचार को रखा है।[39] यह ब्रह्मचर्याणुव्रत का अतिचार होने के लिए सर्वथा उपयुक्त है।

ब्रह्मचर्याणुव्रत की भावनायें :- स्त्रियों के अंग देखने से विरक्त रहना, पूर्वानुभूत भोगों के स्मरण से विरक्त रहना, स्त्रियाँ जहाँ रहती हों वहाँ रहने से विरक्त रहना, शृंगारिक कथाओं से विरक्त रहना तथा कामोत्तेजक पदार्थों के सेवन का त्याग करना ये पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रत की भावनायें भगवती आराधना में कहीं गई हैं।[40] आचार्य उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र में संसक्तवास के स्थान पर स्व शरीर संस्कार त्याग नामक भावना है।[41] शेष चार भावनायें समान हैं। ब्रह्मचर्याणुव्रत की इन पाँच भावनाओं में पाँचों इन्द्रियों एवं मन के विषयों की प्रवृत्ति को त्यागने का भाव गर्भित है। इससे यह भी स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य केवल स्पर्शन इन्द्रिय मात्र का विषय नही है, अपितु सभी इन्द्रियों का विषय है।

5. परिग्रहपरिमाणाणुव्रत :- यह वस्तु मेरी है, मैं इसका स्वामी हूँ इस प्रकार का ममत्व परिणाम परिग्रह है।[42] श्री शुभचन्द्राचार्य के अनुसार परिग्रह ही दुःख का मूल कारण है। क्योंकि परिग्रह से काम उत्पन्न होता है, काम से

क्रोध, क्रोध से हिंसा, हिंसा से पाप और पाप से नरक गति होती है। उस नरक गति में अकथनीय अत्यन्त दु:ख होता है।[43] यह विशेष खेद की बात है कि लोग हिंसादि चार को तो पाप मानते हैं, पर परिग्रह को पाप समझते ही नहीं है, जबकि वह सभी पापों की जड़ है। समन्तभद्राचार्य के अनुसार धन-धान्य आदि परिग्रह को परिमित करके कि 'इतना रखेंगे' फिर उससे अधिक की इच्छा न रखना सो परिग्रह परिमाण अणुव्रत है। इसे इच्छा परिमाण व्रत भी कहा गया है।[44] कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा गया है कि जो लोभ कषाय को कम करके सन्तोष रूपी रसायन से संतुष्ट होता हुआ सबको विनश्वर जानकर दुष्ट तृष्णा का नाश करता है और आवश्यकता को जानकर धन-धान्य, सुवर्ण, क्षेत्र आदि का परिमाण करता है, उसके यह पाँचवां अणुव्रत होता है।[45] परिग्रहत्याग अणुव्रत में तो धन-धान्यादि का आवश्यकतावश परिमाण किया जाता है, जबकि परिग्रह त्याग प्रतिमा में इनका त्याग किया जाता है।[46]

परिग्रह परिमाणाणुव्रत के अतिचार :- तत्त्वार्थसूत्रकार ने क्षेत्र एवं वास्तु के प्रमाण के अतिक्रमण, सोना-चाँदी के प्रमाण के अतिक्रमण, धन-धान्य के प्रमाण के अतिक्रमण दासी-दास के प्रमाण के अतिक्रमण और कुप्य अर्थात् वस्त्र एवं भाण्ड के प्रमाण के अतिक्रमण को परिग्रह परिमाणाणुव्रत के पाँच अतिचार कहे हैं।[47] समन्तभद्राचार्य के अनुसार प्रयोजन से अधिक सवारी रखना, आवश्यक वस्तुओं का अधिक संग्रह करना, दूसरों का वैभव देखकर आश्चर्य करना, बहुत लोभ करना तथा बहुत भार लादना ये पाँच परिग्रहपरिमाण अणुव्रत के अतिचार हैं।[48] यहाँ ध्यातव्य है कि तत्त्वार्थसूत्र प्रतिपादित पाँचों अतिचार तो एक अतिक्रमण नाम में ही ग्रहीत हो सकते थे। अत: उनकी पञ्चरूपता की सार्थकता के लिए ही समन्तभद्राचार्य मे स्वतन्त्र रूप से पाँच अन्य अतिचारों का प्रतिपादन किया है।

परिग्रहपरिमाणाणु व्रत की भावनायें :- पाँचों इन्द्रियों के इष्ट विषयों में राग एवं अनिष्ट विषयों में द्वेष नहीं करना अपरिग्रह व्रत की भावनायें हैं।[49] इन्हें यथायोग्य महाव्रत एवं अणुव्रत में संगत करना चाहिए।

व्रतों की भावनाओं एवं अतिचारों का वर्णन सर्वप्रथम तत्त्वार्थसूत्र में प्राप्त

होता है। कुन्दकुन्दाचार्य एवं स्वामी कार्तिकेय ने उनका कोई वर्णन नही किया है। परवर्ती आचार्यों का वर्णन प्राय: तत्त्वार्थसूत्र एवं रत्नकरण्ड-श्रावकाचार के वर्णन से प्रभावित है।

अणुव्रतों की आज के सन्दर्भ में उपयोगिता :- आज मानव की हिंसा चरम सीमा पर है। विश्व भर में आतंकवाद तेजी से फैलता जा रहा है। अण्डा, मांस, मछली अब व्यापारिक वस्तु बन गई है तथा बूचड़खाने कमाई के साधन बन रहे हैं। ऐसी स्थिति में अहिंसाणुव्रत का परिपालन ही हमारी रक्षा कर सकता है। अन्यथा प्रत्येक देश को वैसी त्रासदी झेलना पड़ सकती है जैसी अभी 11 सितम्बर 2001 को अमेरिका ने झेली है। चोरी कराके, चोरी का माल खरीदकर, आयकर एवं बिक्रीकर आदि में घपला करके, कमती-बढ़ती माप-तौल रखके तथा महंगी वस्तु में सस्ती वस्तु की मिलावट करके लोग रातों-रात करोड़पति बनने के सपने संजो रहे हैं तथा रेत की दीवारों के महल बना रहे हैं। जनसंख्या के अनुपात में जैनों का प्रतिशत अब कम नही है। उन्हें अचौर्याणुव्रत की भावनायें भाकर अतिचारों से बचने की प्रयास पूर्वक आवश्यकता है। 'शीलं परं भूषणम्' का भाव अब समाज में कहीं-कहीं ही दिखाई दिया करता है। उत्साहपूर्वक रावण का पुतला जलाने वाले लोग ही रावण का आचरण करते लजाते नही हैं। स्वपत्नी संतोष न रहने के कारण ही अमर्यादित मैथुन के कारण विश्व एड्स जैसी खतरनाक बीमारियों की गिरफ्त में आ गया है। बलात्कार और उसके बाद हत्या अब प्रत्येक नगर का प्रमुख समाचार बन गया है। व्यक्ति भोगविलास को ही अपना लक्ष्य समझ रहा है। ऐसी दशा में स्वपत्नीसन्तोष/स्वपतिसन्तोष व्रत ही एक मात्र इन समस्याओं का सार्थक समाधान प्रस्तुत कर सकता है। आचार्यों ने परिग्रह को सभी पापों का बाप कहा है, किन्तु आश्चर्य तो यह है कि परिग्रह में लिप्त मनुष्य का अब परिग्रह को पाप मानने तक में विश्वास नही रहा है। जरूरत से अधिक वस्तुओं के संग्रह ने अन्य व्यक्तियों को अभाव में जीने के लिए मजबूर कर दिया है। पर्याप्त अन्न भण्डार होने पर भी उड़ीसा में लोग भूख के कारण मर रहे हैं। यदि हम वास्तव में ही 'जिओ और जीने दो' की भावना रखते हैं तो हमें अपनी इच्छाओं को सीमित करके परिग्रहपरिमाण अणुव्रत अपनाना ही होगा।

पाँचो अणुव्रत मानव, समाज, राष्ट्र एवं विश्व के नैतिक उत्थान के लिए परम आवश्यक हैं। आज के सन्दर्भ में अणुव्रतों के सामयिक प्रयोग की महती आवश्कता है। यही व्यक्तित्व निर्माण की आधारभूमि है।

सन्दर्भ :-

1. सागारधर्मामृत 1/15 की स्वोपज्ञ टीका, 2. अभिधानराजेन्द्र कोष, भाग 7 पृष्ठ 779,
3. गच्छाचारपयन्ना टीका, द्वितीय अधिकार, 4. स्थानाङ्ग.सूत्र, ठागा 4 उद्देश 4,
5. सागरधर्मामृत, 7/38-39, 6. आदिपुराण, 39/149,
7. मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम्। अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमः।। -रत्नकरण्डश्रावकाचार, 66,
8. हिंसासत्यास्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात्।
द्यूतान्मांसान्मधाद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणाः।।
(चारित्रसार में उद्घृत)
9. मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव।। पुरुषार्थसिद्धि, 61
10. मद्यपलमधुनिशाशनपञ्चफलीविरतिपञ्चकाप्तनुती।
जीवदयाजलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः।।
-सागारधर्मामृत, अध्याय 2
11. समीचीन धर्मशास्त्र, प्रस्तावना पृ. 59,
12. 'व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः, इदं कर्तव्यमिदं न कर्तव्यमिति वा' -सर्वार्थसिद्धि, 7/1
13. संकल्पपूर्वकः सेव्ये नियमोऽशुभकर्मणः।
निवृत्तिर्वा व्रतं स्याद्वा प्रवृत्तिः शुभकर्मणि।।
-सागारधर्मामृत, 2/80
14. 'एभिश्च दिग्व्रतादिभिरुत्तरव्रतैः सम्पन्नोऽगारी व्रती भवति।'
-'अणुव्रतोऽगारी' सूत्र का तत्त्वार्थाधिगम भाष्य
15. सर्वार्थसिद्धि, 7/20
16. अणूनि लघूनि व्रतानि अणुव्रतानि। लघुत्वं च महाव्रतोपक्षया अल्पविषयत्वादिनेति प्रतीतमेवेति। उक्तं च
सव्वगयं सम्मत्तं सुए चरित्तेन पज्जया सव्वे।
देसविरइं पमुच्च दोण्ह वि पार्डसेवणं कुज्जा।।
अथवा सर्वविरतापेक्षयाऽणोर्लघोर्गुणिनो व्रतानि अणुव्रतानि।
-अभिधानराजेन्द्र कोष, भाग 1 पृष्ठ 416
17. चारित्रसार, 13/3, 18. श्रावकाचारसंग्रह, भाग 4 भूमिका पृष्ठ 37, 19. वसुनन्दि श्रावकाचार, 209
20. धर्ममहिंसारूपं संशृण्वन्तोऽपि ये परित्यक्तुम्।
स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसांतेऽपि मुञ्चन्तु।। -धर्मरत्नाकर, 924
(पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, 76)
21. बन्धवधच्छेदातिरोपणान्नपाननिरोधाः। -तत्त्वार्थसूत्र 7/25
22. वाङ्.मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि च पञ्च । -वही 7/4
23. द्रष्टव्य-उपासकाध्ययन, द्वितीय आश्वास

24. येनाप्रत्ययदण्डो सन्तापो भवति निरपराधस्य।
    असदभिधानं त्वनृतं तत्त्याज्यं दूरतः सुधिया।। धर्मरत्नाकर, 1022
25. स्थूलमलीकं न वदति न परान्वादयति सत्यमपि विपदे।
    यत्तदवदन्ति सन्तः स्थूलमृषावादवैरमणम्।। रत्नकरण्ड -श्रावकाचार, 55
26. मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकार- मन्त्रभेदाः। -तत्त्वार्थसूत्र 7/26
27. क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च। -वही 7/5
28. सर्वार्थसिद्धि, 7/15
29. निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टम्।
    न हरति यन्न दत्ते तदकृशचौर्यादुपरमणम्।। रत्नकरण्ड., 57
30. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 315-316
31. 'स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मान प्रतिरूपकव्यवहाराः।' -तत्त्वार्थसूत्र, 7/27
32. शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धि-सधर्माविसंवादाः पञ्च।' -वही 7/7
33. सर्वार्थसिद्धि, 7/9
34. न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्।
    सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसन्तोषनामापि।। रत्नकरण्ड., 59
35. वसुनन्दिश्रावकाचार, 212, 36. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 337-338, 37. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, 110
38. 'परविवाहकरणेत्वरिकापरिग्रहीतापरिग्रहीतागमनानङ्ग.-क्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः।' -तत्त्वार्थसूत्र 7/28
39. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 60, 40. भगवती आराधना, 1210, 41. तत्त्वार्थसूत्र, 7/7, 42. राजवार्तिक, 6/15
43. ज्ञानार्णव, 16/12/178, 44. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 61, 45. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 339-340
46. लाटीसंहिता, 7/40-42
47. 'क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणाति-क्रमाः।' -तत्त्वार्थसूत्र, 7/29
48. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 62
49. 'मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च।' -तत्त्वार्थसूत्र, 7/8

-उपाचार्य एवं अध्यक्ष-संस्कृत विभाग
एस. डी. (पी. जी.) कॉलेज
मुजफ्फरनगर (उ. प्र.)

जेण विणा चारित्तं, सुअं तवं दाणसीलं अवि सव्वं।
कासकुसुमं व विहलं, इअ मुणिअं कुणसु सुहभवं ।।
-श्री सोमदेवसूरिकृत आराधना प्रकरण, 58

अर्थ- जिसके बिना चारित्र, श्रुत, तप, दान और शील सब कास के फूल की तरह विफल (फलहीन) हो जाते हैं, ऐसा जानकर शुभ भाव करो।

सप्त व्यसन का समाज पर दुष्प्रभाव

-डॉ. ज्योति जैन

भौतिकवाद की चकाचौंध और आधुनिकता के परिवेश में प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी समस्या से ग्रस्त अपने आप को तनाव, निराशा और अशांति से घिरा पाता है। जैन धर्म ही एक ऐसा धर्म है जिसमें (स्टेप वाई स्टेप) व्यक्तियों की समस्याओं का निराकरण कर, उसे आत्म कल्याण की ओर अग्रसर होने एवं सुख शांति का अनुभव प्राप्त करने के लिये एक सुदृढ़ और सुव्यवस्थित आचार संहिता हमारे आचार्यों ने दी है। इसीशृंखला में धर्म हमें सबसे पहले पापों से परिचय कराता है क्योंकि जब तक व्यसनरूपी पाप नहीं हटेगे धर्म नहीं होगा। इसीलिये जैन दर्शन कर्मो की निर्जरा पर जोर देता है। आचार्य पद्मनंदी ने पंचविंशातिका में उन सप्त व्यसनों का परिचय कराया है जो जीवन में सबसे अधिक हानि पहुंचाते हैं, यह पाप हैं, विष रूप है।

21वीं सदी आते आते मानव अपने मानवीय आदर्श एवं संस्कार खोता जा रहा है और अशांति, हिंसा, लूटपाट, बलात्कार, आतंकवाद जैसी कुप्रवृतियां बढ़ती जा रही हैं। आपाधापी की यह अंधी दौड़ हमें कहां ले जायेगी पता नहीं। भौतिक सुख सुविधा ने मनुष्य को विलासी बना दिया है। पैसे को इतनी प्रतिष्ठा मिल गयी है कि सब पैसे को भगवान समझने लगे हैं इसी पैसे और विलासिता ने मनुष्य के विवेक पर परदा डालकर उसे व्यसनी बना दिया है। अत: आवश्यकता है कि हम विवेक को जागृत करें, आखें खोलें, संस्कार, शिक्षा और गुरु वाणी के माध्यम से धर्म के मार्ग को अपनायें। आज छोटे छोटे बच्चे संस्कार हीनता के कारण व्यसनयुक्त होते जा रहे हैं अत: परिवार का दायित्व विशेष रूप से मां का दायित्व अधिक बनता है कि उन्हें संस्कारित करे।

आज बच्चों में जुआ रूपी विभिन्न प्रतियोगितायों की लत, अभक्ष्य पदार्थो का सेवन, झूठ, बेइमानी जैसी बुरी आदतें, नशीली चीजों का सेवन, उन्मुक्त

यौन व्यवहार, क्रूरता, करुणा का अभाव, और रिश्तों की बदलती मर्यादायें जैसी सामाजिक बुराईयां बचपन से ही पनपने लगीं हैं बड़े होने तक ये बुरी आदतों में परिणत हो जाती है। अतः उचित शिक्षा, संस्कार एवं गुरु-वाणी से उन्हें विवेकवान बनाना आवश्यक है। तभी अच्छे-बुरे की पहचान होगी ये सब किसी ट्युशन या कोचिंग क्लास में नहीं मिलेगा यह सब हमें धार्मिक/नैतिक संस्कारों की शिक्षा के द्वारा मिलेगा। सच ही कहा है कि धर्म जीवन का आधार है। धार्मिक/नैतिक संस्कारों से मानवीय गुणों, संवदेनाओं एवं विचारों को बल मिलता है।

इस संसार में अच्छाई भी है बुराई भी है, नेकी भी है और वदी भी है, पाप भी है पुण्य भी है, व्यसन भी है सदाचार भी है यह हमारे विवेक पर निर्भर है कि हम क्या चुनें।

गुरुवर कहते है कि संसार की बगिया में से फूल-चुनो, शूलों को भूल जाओ जो फूल चुनता है उसका जीवन फूल सा सौरभ बिखेरता है

वैसे तो आचार्यो ने व्यसनों खोटी आदतों को सात भागों में बांटा है, पर ये सात व्यसन 7000 व्यसन से कम नहीं। जितने भी अनैतिक-पापयुक्त कार्य है सभी व्यसनों में आते है जो मानव को पतन की ओर ले जाते हैं। आचार्यों ने सात व्यसन बताये है।

ये सात व्यसन है- द्यूत-मांस-सुरा-वेश्या खेट चौर्य पराङ्गना, **महापापानि सप्तेति व्यसनानि त्यजेद् बुधः॥** जुआ, मांस, शराब, वेश्यागमन, शिकार, चोरी, परस्त्रीसेवन ये सात व्यसन हैं जिनका त्याग होना चाहिये।

जुआ :- व्यसनों में जुआ को पाप का बीज बताया है। अर्थात् यदि अपने जीवन को पापमय बनाना है तो जुआ रूपी व्यसन के बीज की अपने जीवन में बोनी कर दो (बो-लो)। इतिहास गवाह है कि जुआ खेलने के कारण किस तरह वंश के वंश नष्ट हो गये और महाभारत जैसा युद्ध हुआ। युधिष्ठर जैसा धर्मज्ञ, अर्जुन जैसा धर्नुधारी, भीम जैसा योद्धा, नकुल व सहदेव जैसे वात्सल्य प्रेमी को दुनिया की कोई ताकत पराजित नहीं कर सकती थी, उन्हें जुआ ने पराजित कर दिया।

हार जीत की शर्त लगाकर कोई भी खेल खेलना सभी जुआ के अन्तर्गत आते है। मनुष्य ने मनोरंजन के लिये अनेक जुआ रूपी खेलों का अविष्कार कर लिया है। आधुनिक होटल संस्कृति, क्लबों, किटीपार्टियों आदि में इनकी उपस्पिति आवश्यक हो गयी है। नये-नये तर्ज पर बड़े-बड़े कैसीनो (जुआघर) खुल गये हैं जहां परिवार समेत जुआ खेला जाने लगा है। (हर वर्ग के लिये अलग-अलग व्यवस्था)। बदलते परिवेश में जुआ के इतने रूप सामने आ रहे हैं उनसे कहां तक कौन बच पाता है कहना मुश्किल है।

जुआ का ही एक रूप लाटरी ने मानव जीवन की जो बर्बादी की है उस पर जितना कहा जाये जितना लिखा जाये कम है। अनेकों घर, बच्चे, परिवार, लाटरी की भेंट चढ़ गये। आज टी.वी. इंटरनेट के माध्यम से विभिन्न प्रतियोगितायें जो सामने आ रही है उनसे न केवल व्यक्ति की कार्यक्षमता प्रभावित हुई है बल्कि अनेक परिवारों की शांति भंग हो गयी है इन्हीं में उलझा व्यक्ति अपने जीवन को भी उलझा रहा है। कौन बनेगा करोड़पति ने ऐसा लालच, नशा पैदा किया कि लोग काम करना, खाना पीना भूल गये बस इस तक पहुँचने की कल्पनाओं में अपना बहुमूल्य समय नष्ट करने में लगे हुए हैं।

जुआ रूपी नशा न केवल हमारी बुद्धि का नाश करता है वरन् धन और अमूल्य समय को भी नष्ट करता है। यूं तो जुआ कानूनन जुर्म भी है पर अपने नये रूपों में कानून को भी मात दे देता है।

इस संदर्भ में हम महिलाओं का विशेष दायित्व है। द्रौपदी के कथानक को कैसे भुलाया जा सकता है। नारी जाति के अपमान के मूल में जुआ ही था। द्रौपदी का तो तीव्र पुण्य कर्म का उदय था कि अतिशय प्रगट हुआ और उसका चीर हरण न हो सका पर आज हम किस अतिशय की प्रतीक्षा करेंगे! आज हमें स्वयं इस पाप से अपने परिवार को बचाना है ध्यान रखो परिवार के किसी एक व्यक्ति की गलत आदत पूरे परिवार की सुख-शांति भंग कर देती है। हमारे संस्कार, हमारी शिक्षा और हमारे गुरुओं की वाणी ही सही गलत की पहचान कराती है। अतः जुआ रूपी पाप को पास में न फटकने दे।

मांस खाना :- कल्पना भी नहीं की गयी थी कि 21वीं सदी आते आते मानव इतना हिंसक हो जायेगा जितना कि वह अपनी असभ्य अवस्था में भी नहीं था। महावीर और गांधी के अहिंसावादी देश में आज चारों ओर हिंसा ही हिंसा दिखाई दे रही है।

भोजन प्रत्येक प्राणी की अविवार्य आवश्यकता है। प्रकृति ने मनुष्य को शाकाहारी बनाया पर रसना इन्द्रिय की लोलुपता और आधुनिकता के व्यामोह में हम शाकाहारी भी जाने-अनजाने अभक्ष्य पदार्थों का सेवन करने लगे हैं। प्राणीमात्र के प्रति दया भाव रखने वाला जैन धर्म भक्ष्य-अभक्ष्य के संबंध में सदैव सचेत करता रहा है। वैज्ञानिक परीक्षणों से भी सिद्ध हो गया है कि मांसाहार स्वास्थ्य के अनुकूल नहीं है एवं विभिन्न बीमारियों को जन्म देता है।

'जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन' कहावत वर्षों से हमारे आहार चर्या रूपी धरोहर के रूप में चली आ रही है। हम जैसा खायेंगे हमारे मन की परिणति वैसी ही होगी। यदि हम मांसाहारी अभक्ष्य पदार्थों का सेवन करेंगे तो हमारे परिणाम हिंसात्मक ही होंगे। संसार में जितने भी हिंसात्मक कार्य हो रहे है उन सबके पीछे मांसाहार भी एक कारण है।

अनेक वैज्ञानिक एवं सामाजिक सर्वेक्षण एवं शोधों से स्पष्ट हो गया है कि शाकाहार ही उत्तम आहार है। शाकाहार शांतिकारक, हानिरहित, सुखी जीवन शैली की पहचान है। हमारे शास्त्रों में इस सबंध में अनेक कथानक हैं जैसे-राजा बक जिसने बच्चों तक का मांस खाया उसकी क्या दुर्दशा हुई। एक मांसाहारी भील की कथा जिसने मुनिराज के कहने पर कौए का मांस छोड़ दिया।

आज देश में अंधाधुंध पशुओं का कत्ल हो रहा है, मांस का निर्यात हो रहा है जो हमारी अहिंसावादी संस्कृति के विपरीत है। भाषण बाजी, रैलियां जुलूसों से काम नहीं चलने वाला, शाकाहारियों का एक बहुत बड़ा समुदाय है जनचेतना जागृत कर सरकार पर दबाब डाल सकते है। शाकाहारी जन प्रतिनिधियों का इस सबंध में विशेष उत्तरदायित्व है। तभी सरकार की नीतियों में हम परिवर्तन ला सकते हैं।

आज हम सब पढ़े लिखे हैं फिर भी खाने-पीने की वस्तुओं में विवेक नहीं रख रहे हैं। आज होटल संस्कृति को बढ़ावा मिल रहा है। राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय भोज्य पदार्थो की शृंखला, डिब्बाबंद भोज्य पदार्थ, फास्टफूड, चाइनीज डिसेस , चाकलेट, आइसक्रीम, सलाद जिसमें न जाने क्या क्या उपयोग होता है, ने हमारे आहार में घुसपैठ कर ली है। हमारी जैन संस्कृति में आचार्यों ने आहार सबंधी एक सुव्यवस्थित/मर्यादित/संयमित एवं स्वास्थ्य वर्धक आचार संहिता दी है जिसका सहजता से पालन किया जा सकता है। हम महिलाओं का विशेष दायित्व है कि आधुनिकता के व्यामोह में अपनी आहार चर्या को न भूलें। पेट को एक संतुलित, नियमित, मर्यादित आहार दें ताकि व्यक्ति स्वस्थ सुखी जीवन बिता सके। आचार्यो ने इस व्यसन को विस्तृत करते हुये बिना छना पानी, रात्रिभोजन, होटल भोजन, रेडीमेड भोजन, दवाईयों आदि के सबंध में विवेक रखने को कहा है।

हमारे जैन आचार्यों, साधुओं, मुनियों, आर्यिकाओं, विद्वानों एवं बुद्धिजीवियों ने इस संबंध में सार्थक प्रयास किये हैं सार्वजनिक मंच से प्रवचन, भाषण, छोटी छोटी किताबें निकालीं हैं। इस संबध में वर्तमान में हमारे आचार्यो मुनियों का समाज पर बहुत बड़ा उपकार है। अपने मार्मिक प्रवचनों के माध्यम से अनेक लोगो का न केवल हृदय परिवर्तन किया वरन् क्या खाये क्या न खाये इस संबध में भी विवेक जागृत किया है।

शराब-नशा :- आचार्यो ने कहा है शराब नशा समस्त पुरुषार्थों को नष्ट कर देता है नशा करने वाला व्यक्ति चारों पुरुषार्थों (अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष) में से किसी को भी प्राप्त नहीं कर सकता है, द्वीपायन मुनि द्वारा द्वारका भस्म हो गयी, यह कथानक किसे याद न होगा।

बड़े बड़े समृद्ध परिवार, नशे की वजह से उजड़ते देखे गये हैं परिवार के परिवार नशे की लत में नष्ट हो गये। आज ट्रेफिक की जितनी भी दुर्घटनायें होती हैं अधिकांश नशे में होती है। शराबी व्यक्ति अच्छा-बुरा भक्ष्य-अभक्ष्य दिन-रात का ज्ञान नहीं कर सकता अपना विवेक खो देता है। आए दिन हम शराबियों, नशेड़ियों की विवेक हीनता देखते रहते हैं। शराब के नशे में बेटी

तक से बलात्कार, नाली-गंदगी में पडे रहना, हिंसा कर देना और परिवार की शांति भंग कर देना आदि निंदनीय क्रियायें करते रहते हैं। शराब के नशे में व्यक्ति क्रूर क्रोधी अंसयमी बन जाता है उसके लिये सामान्य जीवन का कोई महत्व ही नहीं रहता है।

देश की सरकार की नीति भी कुछ इस तरह की है कि मद्यपान और नशीलीं चीजों को बढ़ावा ही मिल रहा है। गली-गली में खुली दुकानें नशा ही नशा बेच रहीं हैं। शराब, अफीम, गांजा, स्मैक, कोकीन, सिगरेट, तम्बाकू, भांग, हरोईन, पान मसाला, गुटका और तरह तरह के इन्जेक्शन जैसी नशीली वस्तुओं का प्रयोग कर स्वयं अपनी मौत को बुला रहे हैं। स्लोपाइजन के रूप में ये नशीले पदार्थ शरीर में असहाय बीमारियों का घर बना रहे हैं। आजकल नशे के नाम पर विभिन्न जहरीले जीवों के अवयव जैसे छिपकली आदि आयुर्वेद के विभिन्न आसव, पीड़ा हारी आयोडेक्स तक नशेडी ब्रेड में लगाकर खा जाते हैं। आधुनिकता की बहार में बहता कोल्डडिंक्र का मायाजाल भी क्या पिला दे कुछ पता नहीं। कोका-कोला के फार्मूले का आज तक पता नहीं फिर भी लोग बोतल दर बोतल पीते चले जाते हैं। क्या हमारा विवेक नहीं कहता कि देखो क्या मिला है किससे बना है। यहां तक कि अपने अहं में लोग इसे पानी से शुद्ध बताने लगे है। पान मसाला, सिगरेट, तम्बाकू आदि सभी पदार्थों का हानिकारक प्रभाव हम रोज ही देख रहे हैं।

मद्यपान और नशीले पदार्थ के सेवन से व्यक्ति की वृत्ति और प्रवृत्ति दोनों बिगड़ रही है। एक शोध के अनुसार जितने अपराध होते है उनमें 92% शराब-नशीलीं चीजों के कारण होते हैं।

नयी-पीढ़ी नशीले पदार्थों को तनाव मुक्ति एवं उत्तेजना की तीव्र अनूभूति और मस्ती के लिये आवश्यक मानने लगी है पर यह एक भ्रम है पतन का रास्ता है।

हम उचित नैतिक/धार्मिक शिक्षा/ संस्कार एवं धर्मगुरुओं की वाणी से ऐसा वातावरण निर्मित करें ताकि बच्चे उस ओर आर्कषित ही न हों। हमारा दायित्व है कि उन्हें व्यसन मुक्त बनायें। सच है यदि परिवार एवं समाज को नशे से

बचाना है तो हमारे दायित्व बढ़ते दिखाई देते हैं पहल हमें ही करनी है।

वेश्यागमन :- 'न नरकं वेश्यां विहायापरम्' अर्थात वेश्या के समान कोई दूसरा नरक नहीं है। जहां अन्य व्यसन नरक का द्वार है वहां वेश्यागमन साक्षात् नरक है। वेश्यागमन से शरीर एवं आत्मा दोनों का पतन होता है। बाजारू स्त्री अर्थात् वेश्या धन और वासना की पूर्ति हेतु कुछ भी कर सकती है। पुरुषों को प्रेम जाल में फंसाकर व्यक्ति की बुद्धि हरण कर नीच से नीच कर्म करने की ओर प्रेरित कर देती है। चंपापुरी के चारुदत्त के वेश्यागमन की कहानी से कौन परिचित नहीं है। चारुदत्त महान स्वाध्यायी, साधुसंगति, धार्मिक चर्चायें, तत्त्व चिंतन-मनन करने वाला था उसके परिवार वालों ने उसकी शादी कर दी। पर तत्त्व चिंतन करने वाले को पत्नी भी मोह में न बांध सकी तब उसके मामा चारुदत्त को वंसत सेना नामक वेश्या से मिलवाते है उस वेश्या का ऐसा जादू चलता है कि सारा ज्ञान धरा का धरा रह जाता है और वह वेश्या के प्रति समर्पित हो जाता है और अपना सब कुछ लुटा देता है। इसी तरह एक सुंदरी के प्रेम में फंसकर युवक अपनी मां का कलेजा लाकर दे देता है।

वेश्यागमन व्यसनी व्यक्ति परिवार का नाश तो करता ही है अपने आप का भी नाश करता है। विभिन्न बीमारियों का शिकार हो जाता है। एड्स जैसी बीमारी मानो प्रवृत्ति की तरफ से अनैतिक आचरण करने वालों को दंड स्वरूप है। आज एड्स जैसे भंयकर बीमारी से विश्व लड़ रहा है युवाओं में इस बीमारी के बढ़ते हमारी नैतिकता पर प्रश्नचिन्ह लग रहा है कि इंसान कितना विषय भोगी हो गया है।

आज इस व्यसन के अनेक पहलू समाज के सामने अनेक नामों और कामों से सामने आ रहे हैं आधुनिकता के परिवेश में इन्हें सेक्स वर्कर नाम दे दिया गया है। होटल, क्लब, गेस्ट हाऊस के माध्यम से इस व्यसन की एक नयी संस्कृति पनप रही है जो युवा पीढ़ी को आर्कषित कर रही है। आधुनिक उन्मुक्त वातावरण में अन्य व्यवसाय की तरह इसे भी व्यवसाय माना जाने लगा है। इस सबका प्रभाव यह होगा कि हमारे आदर्श हमारी नैतिकता धरी की धरी रह जायेगी।

एक दुखद पहलू यह भी है कि न चाहते हुये भी गरीबी बेरोजगारी एवं अन्य कारणों से अनेक महिलाओं, युवतियों यहां तक कि छोटी बच्चियों को इस नरक में ढकेला जा रहा है। जहां से वे जीवन भर मुक्त नहीं हो पाती और नारकीय जीवन बिताने को मजबूर हो जाती है। मनुष्य की बढ़ती हुई विकृति का ही नमूना है कि छोटी बच्चियों से सेक्स संबंध बताने वाले ये आंकड़े इतनी भंयकर तस्वीर दिखाते है कि मानवता मानो खत्म हो गयी हो। असंयम और अशिक्षा ने जो विकृतियां पैदा की है उन्हें हम सब मिलकर दूर करने का प्रयास करें और संयम ही जीवन है इस सिद्धांत को अपनायें।

शिकार :- शिकार का अर्थ हैं किसी प्राणी को अपने शौकपूर्ति या मनोरंजन के लिये मारना। मनुष्य इतना क्रूर और हिंसक होता जा रहा है कि उसे हिंसक कार्यो में आनंद की अनूभूति होने लगी है। आज छोटे जीवों से लेकर विशाल प्राणी तक का अस्तित्त्व खतरे में है। अनेक शौकीन लोग मनोरंजन के लिये शिकार करते हैं और उसका सिर खाल आदि ड्राइंग रूम में लगाकर अपनी बहादुरी का प्रदर्शन करना नहीं भूलते। दवाईयों एवं सौंदर्य प्रसाधनों एवं विभिन्न प्रयोगों की प्रयोगशालाओं के माध्यम से प्राणियों का नितप्रतिदिन घात हो रहा है। विदेशों में प्रचलित खेलों में सांड आदि को लड़वा कर हिंसा में आनंद लेते हैं। अरब देशों में छोटे बच्चों को ऊंट की पीठ से बांधकर दौड़ लगवाते हैं और बच्चे को तड़पता देख आनंदित होते हैं। इसी तरह के हिंसक मनोरंजन कबूतरों, मुर्गो आदि को लड़वा कर भी करते हैं।

आज शिकार आदि पर प्रतिबंध तो है पर मानता कौन है? घरेलू हिंसा भी खूब हो रही है, घरों में कीटनाशकों के माध्यम से खूब कीड़े-मकोड़ों को मौत के घाट उतार दिया जाता है, गर्भपात करवाना भी शिकार रूपी व्यसन है। एक जीव को गर्भ में ही खत्म करवाना मानवीय हिंसा की पराकाष्ठा है। इतना हिंसामय वातावरण हो गया है कि पृथ्वी भी कांप उठती है और प्रकृति का संतुलन भी बिगड़ता जा रहा है। याद रखो दीन हीन प्राणियों को मारोगे तो भव भव भटकना पड़ेगा, सेनापति के शिकार की अनुमोदना का फल मुनि पर्याय में 500 मुनिराजों को भोगना ही पड़ा था। अतः शिकार व्यसन का त्याग करो और "अहिंसा परमो धर्मः" सिद्धांत को जीवन में उतारो।

चोरी-करना :- 'अदत्तादानम् स्तेयम्' अर्थात बिना दी हुई वस्तु को कोई ग्रहण करता है तो वह चोरी है। किसी वस्तु को छल कपट से छीनने पर दूसरों को दुख हो उसे भी चोरी कहेंगे।

चोरी करने वाला धन की तीव्र लालसा में हिंसा तक कर देता है। चोरी से उपार्जित धन का पाप चोरी करने वाले को लगता है, सारे परिवार को नहीं। डाकू बाल्मीकि की कहानी यहां स्मरण आ रही है जब एक संत ने पूछा कि तुम डाका डालते हो तो इसका पाप क्या परिवार के लोग उठायेंगे परीक्षा ली गयी। डाकू ने मरने का नाटक किया साधु आया उसने कहा कि ठीक कर दूंगा ये कटोरी का पानी पी लो पर पीने वाला मर जायेगा कोई पानी पीने को तैयार नहीं हुआ मां बाप भाई बहिन यहां तक कि पत्नी ने भी मना कर दिया। तब डाकू की आंख खुलती है और वह साधु बन जाता है एक व्यक्ति सुबह से शाम तक कितनी मिथ्या बातें करता है कितने झूठ बोलता है कितनी अनैतिकता से पैसे कमाता है ध्यान रखना इस पाप का भागीदार वह स्वयं है।

बदलते परिवेश में चोरी करने के अनेक तरीके विकसित हो गये हैं कर्मचारी आफीसर रिश्वत लेकर, शिक्षक स्कूल में न पढ़ाकर ट्युशन आदि से, खाद्य व्यापारी खाद्य में मिलावट, कम तौलना, न. 2 की कमाई करना, पुलिस आदि का भी रिश्वत लेना सरकारी कर्मचारियों के तो सारे काम कागज पर ही हो जाते हैं कहां तक गिनाये जायें चोरी और चोरी करने वालों की कोई कमी नहीं है। सर्वत्र भ्रष्टाचार, बेईमानी, रिश्वत का बोलबाला हो गया है कानून अंधा होता जा रहा है। फिर भी संस्कारवान शिक्षा और मुनियों द्वारा उपदेशों को सुनने से एक बात तो सामने आती है कि जो तुम गलत कर रहे हो तुम्हारी आत्मा-मन तो जान ही रहा है अतः ईमानदारी से धन कमाओ और जीवन को सार्थक बनाओ सच भी है-

अन्यायोपार्जितं वित्तं दश वर्षाणि तिष्ठति।
जायतेकादशे वर्षे समूलं विनश्यति॥

परस्त्री सेवन :- यह एक ऐसा व्यसन है जिसमें व्यक्ति अपनी नैतिकता का ह्रास कर लेता है विषय वासना में फंसा व्यक्ति चाहे स्त्री हो या पुरूष वह

शरीर, मन, या आखों में से किसी की माध्यम से सेवन करे व्यसनी तो हो ही गया। इतिहास इस व्यसन के कथानकों से भरा पड़ा है। रावण सीता की कहानी, सूर्पनखा की कहानी, राजा द्वारा अपनी रानी को अमरबेल देने की कहानी, कैसे रानी से वेश्या तक वह बेल पहुंच जाता है। राजा यशोधर की कहानी जिसमें रानी कुबड़े के प्रेम में फंसी होती है। आज भी ढेरो कथानक हैं, जो इस व्यसन की विभीषिका को दर्शाते हैं।

आधुनिकता से परिपूर्ण जीवन में हम आए दिन रिश्तों के समीकरण बनते बिगड़ते देखते हैं कपड़ों की तरह संबंधो को बदला जा रहा है। काम की पीड़ा स्त्री-पुरूष के विवेक को हर लेती है वासना की आंधी किसे कहाँ गिरा दे कुछ पता नहीं। घर के घर उजड़ जाते हैं आज घर रूपी नीव कमजोर पड़ रही है। परिवार जैसी संस्था खतरे में है सबंधों में विश्वास की कमी आती जा रही है किसका मन कहां आ जाये पता नहीं। उन्मुक्त खुली संस्कृति ने इस व्यसन को बढ़ावा ही दिया है। आज युवा पीढ़ी शादी को बंधन समझने लगी, बिना शादी किये ही साथ रहना महानगरों की संस्कृति में पनप रहा है रही सही कसर टी. वी. इंटरनेट ने पूरी कर दी। यौन संबधो के खुलापन से हम युवा पीढ़ी को कितना बचा पायेंगे यह सवाल हमारे सामने है। आज जिस तरह का वातावरण बन रहा है उसमें हमारी धार्मिक/नैतिक शिक्षायें और हमारे गुरुओं के उपदेश ही हमें इस सामाजिक प्रदूषण से बचा सकते हैं।

इस तरह ये सातों व्यसन पापों का पिटारा है नरक का कारण है और अशांति, तनाव के जनक हैं। अतः आवश्यकता है स्वयं संस्कारवान बनें बच्चों में भी नैतिक/धार्मिक संस्कार विकसित करें और गुरुओं की वाणी सुन जीवन को सुधारने का प्रयास करें तभी व्यसन मुक्त हो जीवन कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

-शिक्षक निवास

श्री के. के. जैन कॉलेज, खतौली

पुण्य और पाप का सम्बन्ध

-नंदलाल जैन

पुण्य का अर्थ 'पवित्रता उत्पन्न करने वाला साधन या साध्य है। यह व्यक्ति को पवित्र कर सकता है, व्यक्ति समूह को भी पवित्र कर सकता है। इस शब्द में कुछ 'परा-प्राकृतिकता' का भी समाहरण होता है क्योंकि पुनर्जन्मवादियों के लिये यह परलोक सुधारक भी होता है। वस्तुतः पुण्य पाप का विलोम है।

पुण्य $\propto$ (1/पाप) $\propto$ (1/हिंसा)

हिंसा और उससे सम्बन्धित विविध रूपों से पापबंध होता है। फलतः यदि हिंसा = 0, तो पुण्य = (1/0) = अनन्त। इसलिये हिंसा के अल्पीकरण या शून्यकरण से पुण्य होता है। यदि हिंसा अल्पीकृत या शून्य होती है, तो पुण्य का अर्जन क्रमशः वर्धमान होकर अनन्त भी हो सकता है, जो सिद्ध दशा का प्रतीक है। जैनों के पांच पाप हिंसा के ही विविध रूप ही तो हैं, अर्थात्

हिंसा $\propto$ पाप

हम पुण्य और पाप के संबंध को एक अन्य रूप में भी व्यक्त कर सकते हैं। वस्तुतः पुण्य पाप का नकारात्मक रूप है, अर्थात्

पुण्य = - पाप

या पुण्य + पाप = 0

सिद्ध अवस्था में, पाप = 0, फलतः पुण्य = 0

सर्वोच्च विकास की अवस्था में पाप कर्म तो शून्य हो ही जाते हैं, पुण्य कर्म भी सम्पूर्ण कर्मक्षय के कारण शून्य हो जाते हैं। फलतः यदि पाप = 0, तो पुण्य भी शून्य हो जायेगा। यह सिद्धों की सर्वोच्च स्थिति है। इसीलिये

निश्चयवादी यह कहते हैं कि उच्चतर आध्यात्मिक स्थिति में पुण्य भी हेय है (क्योंकि पुण्य भी तो कर्म है)। इस आधार पर पुण्य की इकाइयों का मान पाप की इकाइयों के समकक्ष पर ऋणात्मक होगा।

यद्यपि शास्त्रों में 'सावद्यलेशो, बहुपुण्यराशि:' कहा गया है, पर वहां न तो 'लेश' शब्द की परिमाणात्मकता बताई गई है और न ही 'बहु' शब्द का लेश-मात्रा से सम्बन्ध बताया गया है। पर इस सम्बन्ध को परोक्षत: भी अनुमानित किया जा सके, तो हमारे विवरण में किंचित् वैज्ञानिकता आ सकती है। तथापि, पुण्य की मात्रा का परिकलन हिंसा की मात्रा के परिकलन के समान सरल नहीं है क्योंकि पुण्यार्जन में मानसिक विचार एवं संकल्प एक अनिवार्य अंग है। यहां हम कर्म-सिद्धांत का उपयोग कर कुछ परिमाणात्मकता ला सकते हैं।

इसके अनुसार, पुण्य-प्रकृतियां 42 हैं और पाप प्रकृतियां 82 हैं। सामान्य गणित में यह कहा जा सकता है कि एक पुण्य प्रकृति दो पाप प्रकृतियों को उदासीन करने में समक्ष है।

कर्म सिद्धांत की एक अन्य धारणा के अनुसार, पुण्य हल्का होता है और पाप या हिंसा भारी होती है। साथ ही, कर्म, पाप और पुण्य सभी सूक्ष्म कणिकामय हैं अर्थात् भौतिक हैं। इन्हें आधुनिक भौतिक कणों के लघुतम और अल्पतम दीर्घ रूपों में व्यक्त करना तो कठिन ही है, फिर भी जैनों के अनुसार, चरम परमाणु का विस्तार और घनत्व अल्पतम होता है। इसे हम एक (जैसे हाइड्रोजन) मान लें, तो भारी कण का भार या विस्तार ऐसा होना चाहिये जिसमें नीचे की ओर पतित होने की न्यूनतम क्षमता हो। यदि वाल्टर मूर के अनुसार, चरम परमाणु का विस्तार, 10^{-13} सेमी. और द्रव्यमान 10^{-24} ग्रा. भी मानें, तब भी उसके घनत्व के मान को इकाई ही लेना होगा। इसका कारण यह है कि शास्त्रानुसार हिंसक नीचे नरक में जाता है और अहिंसक ऊपर स्वर्ग या मोक्ष तक जाता है। इस दृष्टि से हम लघुतम ठोस परमाणु लीथियम के समकक्ष मान लें जिसका भार हाइड्रोजन की तुलना में सात (या सातगुना भारी) होता है। इस आधार पर पुण्य और पाप का अनुपात

1:7 भी संभावित है अर्थात् एक पुण्य प्रकृति सात पाप प्रकृतियों को उदासीन करने में सक्षम है। यह संकेत उपरोक्त कर्म प्रकृति पर आधारित निष्कर्ष के विपर्यास में जाता है। फलतः पुण्य और पाप का सम्बन्ध निम्न दो रूपों में व्यक्त किया जा सकता है :

1 पुण्य ≡ 2 पाप (कर्म सिद्धांत)
1 पुण्य ≡ 7 पाप (घनत्व के आधार पर)

इन सम्बन्धों की यथार्थता का मूल्यांकन करना कठिन है, फिर भी, हम औसतन यह मान ले कि

1 पुण्य कर्म ≡ (7+2)/2 पाप कर्म ≡ 5 पाप कर्म

फलतः यह माना जा सकता है कि एक पुण्यमय कार्य प्रायः पांच पापमय कार्यों को उदासीन कर सकता है। निश्चित रूप से, पांच की संख्या 'एक' की संख्या की तुलना में 'बहु' तो मानी ही जा सकती है। यदि इस सम्बन्ध में अन्य कोई शास्त्रीय आधार पर धारणा उपलब्ध हो, तो ज्ञानीजन लेखक को सूचित करें।

पर प्रश्न यह है कि पुण्य की परिमाणात्मकता का केवल यह अनुपात ही आधार है या अन्य भी कुछ हो सकता है? साथ ही, विभिन्न पुण्य कार्यों की कोटि कैसे-निर्धारित की जावे? यह हिंसा की परिमाणात्मकता के समान सरल नहीं है। हमने हिंसा की मात्रा के परिकलन में विभिन्न जीवों की चैतन्य कोटि का आधार भी लिया है। सभी जीवों की आत्मा में समान-क्षमता होते हुये भी उनकी चैतन्य कोटि में अंतर होना ही चाहिये। यदि एक जीव में एक आत्मा की धारणा ही सही मानी जावे तो दो इन्द्रिय या पंचेन्द्रिय जीव के हिंसन में बराबर हिंसा माननी होगी जो सही नहीं लगता। इसलिये हिंसा का मान भी जीवों की चैतन्य कोटि पर आधारित मानना चाहिये।

यदि हम वर्तमान विज्ञान के अनुसार जीव की कोशिकीय संरचना माने, तो इन्द्रियों की वृद्धि के साथ सामान्यतः स्थूलता भी बढ़ती जाती है और उनमें

कोशिकाओं की संख्या भी बढ़ती जाती है। कोशिकाओं का आकार, विस्तार एवं संख्या का मापन अनुमित किया जा सकता है। इस दृष्टि से मनुष्यों के जीव में सौ खरब (10^{13}) कोशिकायें पाई जाती हैं और बैक्टीरिया एक कोशिकीय होता है। फलतः एक बैक्टीरिया की तुलना में सामान्य पंचेन्द्रिय मनुष्य के हिंसन में 10^{13} गुनी हिंसा संभावित है। इस आधार पर उनका चैतन्य भी इनकी तुलना में एक खरब गुना होना चाहिये। इतने अधिक हिंसक की संभावना के कारण ही पंचेन्द्रियों के हिंसन को उच्चतर नैतिक और धार्मिक अपराध माना गया है। पर यहां यह प्रश्न भी उठता है कि एक इन्द्रिय कोशिका के समूह की पंचेन्द्रियता कैसे स्थापित की जाय जिससे उसकी चैतन्य कोटि निर्धारित की जा सके। इस विषय में विचारणा चल रही है।

पुण्य के परिकलन में चैतन्य की कोटि तो पंचेन्द्रियों (पशु, मनुष्य, देव, नारक) के अनुरूप ही होगी क्योंकि विकलेन्द्रियों में शास्त्रानुसार मन नहीं पाया जाता। फलतः उनके प्रकरण में यह परिकलन यथार्थता से नहीं हो पायेगा। अतएव हमें और भी सूक्ष्मतम विश्लेषण एवं विचारणा की आवश्यकता पड़ेगी। फलतः हमारा पुण्य परिकलन पंचेन्द्रियों तक ही सीमित होगा। इस समय चैतन्य कोटि का निर्धारण चल रहा है।

-जैन सेंटर, रीवा, म.प्र.

ग्राहयोऽस्ति धर्मः सहितो दयाभिर्देवोऽपि चाष्टादशदोषमुक्तः।
रत्नैस्त्रिभिः सौख्यमयैश्च युक्तो वन्द्यो गुरुः स्वात्मरसेन तृप्तः॥

-बोधामृतसार, 5

अर्थ- जो धर्म दया से सहित है, वही ग्रहण करने योग्य है, जो देव अठारह दोषों से रहित वही देव ग्रहण (पूजन) करने योग्य है। जो गुरु सुखमय रत्नयय से युक्त है तथा आत्मारस से संतुष्ट है, वही गुरु वन्दना के योग्य है।

अनेकान्त शोध पत्रिका में प्रकाशित जैन इतिहास विषयक प्रमुख लेख

-डॉ. सुरेश चन्द जैन

20वीं शताब्दी श्रमण परम्परा के लिए महत्त्वपूर्ण शताब्दी रही है। स्वनाम धन्य पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी, ब्र. शीतलप्रसाद जी, आ.जुगलकिशोर मुख्तार, बाबू छोटेलाल, पं. गोपालदास जी बरैया, एवं परम्परा पोषक पण्डित वर्ग के अभ्युदय का जैन सांस्कृतिक परम्परा के विकास में इस शताब्दी कालखण्ड में विशिष्ट योगदान रहा है। इस शताब्दी के प्रारम्भ में श्री स्याद्वाद महाविद्यालय का अभ्युदय अद्यावधि विद्वत् परम्परा के संपोषण एवं अभिवर्द्धन के लिए एक गौरवपूर्ण उपलब्धि है तो दूसरी ओर अनेक संस्थाओं ने जैन सांस्कृतिक ऐतिहासिक परम्परा को शोध-खोज के माध्यम से नए आयाम दिए हैं। उनमें वीर सेवा मन्दिर दिल्ली द्वारा ऐतिहासिक महत्त्व के आलेख जैन परम्परा के लिए ऐसी धरोहर है, जिसके महत्त्व को रेखांकित करना कठिन नहीं तो दुरूह अवश्य है।

वीर सेवा मन्दिर के संस्थापक आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार की दीर्घकालिक परिकल्पना को 'अनेकान्त' पत्र ने मूर्त रूप प्रदान किया है। तत्कालीन परिस्थिति का वास्तविक परिदृश्य उपस्थित करते हुए आ.मुख्तार सा. ने अपने सम्पादकीय में लिखा था 'खेद है, जैनियों ने अपने आराध्य देवता 'अनेकान्त' को बिल्कुल भुला दिया है और वे आज एकान्त के अनन्य उपासक बने हुए हैं, उसी का परिणाम है उनका सर्वतोमुखी पतन, जिसने उसकी सारी विशेषताओं पर पानी फेर कर उन्हें संसार की दृष्टि में नगण्य बना दिया है। अस्तु, जैनियों को फिर से अनेकान्त की प्राण प्रतिष्ठा कराने और संसार को अनेकान्त की उपयोगिता बताने के लिए ही यह पत्र अनेकान्त नाम से निकाला जा रहा है।'

1. अनेकान्त वर्ष 1, किरण 1, पृष्ठ 57

'जैन हितैषी' ने जिस शोध खोज का शुभारम्भ किया था उसे अनेकान्त ने नए क्षितिज प्रदान किए। समन्तभद्राश्रम नाम से प्रारम्भ हुई संस्था वीर सेवा मन्दिर के रूप में भी अपने लक्ष्य पर कायम रही और 'समन्तात् भद्रः' स्वरूप को स्थापित करने मे अनेकान्त ने महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है।

अनेकान्त के प्रसिद्ध इतिहास सम्बन्धी आलेखों की संख्या 693 है, जिसमें पुरातत्त्व, संस्कृति, स्थापत्य, एवं कला सम्बधित लेख गर्भित हैं। विगत 72 वर्षों की दीर्घ जीवन में अनेकान्त ने अनेक उतार-चढ़ावों का सामना किया है। समाज के उदासीनभाव, प्रतिगामी स्वभाव और साहित्य इतिहास के प्रति व्याप्त घोर उपेक्षा को भी सहन करना पड़ा है। अनेकान्त ने वी.नि. संवत् 2456 (1929) में समन्तभद्राश्रम (वीर सेवा मन्दिर) आ. जुगलकिशोर जी मुख्तार के दिशा-निर्देशन में मासिक के रूप में अपना सफर प्रारम्भ किया। तदुपरान्त आर्थिक संकटों में उलझ गया। सरसावा में स्थानान्तरित होने के बावजूद आठ वर्षों तक निष्क्रिय रहा। बाबू छोटेलाल कलकत्ता तथा लाला तनसुखराय जैन के आर्थिक सम्पोषण से 1938 से पुनः प्रकाशित किया गया। एक वर्ष भारतीय ज्ञानपीठ ने भी संचालन किया। जुलाई 1949 में फिर आर्थिक संकट के कारण दो वर्ष तक अपने सफर को इसे रोकना पड़ा। 1957 तक चलकर पुनः 5 वर्ष के लिए रुकना पड़ा। 1962 से 1975 तक द्वैमासिकी के रूप में प्रकाशित होता रहा। 1975 से इसका सफर रुका नहीं और त्रैमासिक के रूप में प्रकाशित होता आ रहा है। अनेकान्त में प्रकाशित इतिहास विषयक महत्त्वपूर्ण आलेख की अकारादि क्रम से सूची निम्नांकित है-

इतिहास पुरातत्त्व संस्कृति, स्थापत्य, कला

अ

अग्रवालों का जैन संस्कृति में योगदान
-परमानन्द जैन शास्त्री 19/276, 19/326

अग्रवालों का जैन संस्कृति में योगदान
-पं. परमानंद शास्त्री 20/98, 20/177, 202233

अग्रवालों का जैन संस्कृति में योगदान
-परमान्द शास्त्री 21/46, 21/91, 21/185

अचलपुर के राजा श्रीपाल ईल
-नेमचन्द धन्नूसा जैन 19/105

अतिशय क्षेत्र-एलोरा की गुफाएँ

आ

च

फ

ब

श्र

स

उतार-चढ़ाव और आर्थिक एवं सामाजिक उदासीनता के चक्र में भी गौरव पूर्ण उद्देश्यों के प्रति समर्पित यह पत्रिका अपने अवदानों के लिए जैन इतिहास, सिद्धान्त, साहित्य, समीक्षा, सामयिक, कविता एवं मूलभाषा सम्बन्ध आलेखों का एक सशक्त जीवन्त दस्तावेज है, जिसे आ. जुगलकिशोर मुख्तार, पं. परमानन्द शास्त्री, श्री भगवत स्वरूप भगवत्, श्री अगरचन्द्र नाहटा, डॉ. दरवारी लाल कोठिया, श्री अयोध्या प्रसाद गोपलीय, डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, पं. हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री, पं. नाथूराम प्रेमी, पं. पद्मचन्द्र शास्त्री जैसे विद्वानों ने बेवाक होकर तैयार किया है। पं. पद्मचन्द्र शास्त्री ने तो विगत 30 वर्षों में अनेकान्त में प्राकृत विषयक जो सामग्री प्रस्तुत की है वह जैन साहित्येतिहास के लिए भविष्य में मार्गदर्शक सिद्ध होगी।

तात्पर्य यह है कि अनेकान्त में इतिहास-पुरातत्त्व के आलेखों के साथ ही मूल आगम ग्रन्थ सम्पादन तथा आगम भाषा विषयक सामग्री का भी प्रचुरमात्रा

में प्रकाशन हुआ है। वह भी इतिहास की सामग्री से भिन्न नही है। 2500वें निर्वाण महोत्सव के प्रसंग में 'अनुत्तर योगी महावीर' कृति की समीक्षा करते हुए 'विष मिश्रित लड्डू' शीर्षक से परम्परागत मूल्यों की रक्षा का ऐतिहासिक दस्तावेज प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार मूल आगम एवं भाषा विषयक पं. पद्मचन्द्र शास्त्री द्वारा प्रस्तुत आलेख दिगम्बर आगमों के सुस्पष्ट निर्धारण के उन आयामों और मानदण्डों को स्थापित करते हुए मार्गदर्शन करते हैं, जिन पर समस्त दिगम्बर परम्परा और इतिहास की भावी भित्ति खड़ी होगी तथा अध्येता अनुसन्धित्सुओं को एक सुनिश्चित मार्ग निर्धारण करने को मार्ग प्रशस्त करेगा। विडम्बना यह है कि आज कतिपय विद्वत् वर्ग सत्यान्वेषी न होकर अर्थान्वेषी है और अर्थ की लोलुपता सत्य को खोजने में सबसे बड़ी बाधा है यदि ऐसा न होता तो वर्तमान के सभी मनीषी विद्वान् प्राकृत विषयक अवधारणा और मूलआगम संपादन/संशोधन विषयक पं. पद्मचन्द्र शास्त्री की धारणा से सहमत होते हुए भी उदासीन भाव से असहमत न होते। विद्वत् समुदाय ने अनेकान्त के परम्परा पोषित सन्दर्भों में भी न्याय का आश्रय नही लिया यह भी विडम्बना और आश्चर्य का विषय है। परन्तु पण्डित पद्मचन्द्र शास्त्री ने अदम्य साहस के साथ एकला चलो रे की राह नहीं छोड़ी और समाज को जरा सोचिए तथा परम्परित मूल्यों के प्रति अपने आलेखों के माध्यम से सचेत करते रहे। यह बात अलग है कि उनकी सत्यान्वेषी आवाज नक्कारखाने की तूती की तरह विभिन्न हठों के बीच अनसुनी कर दी गई लेकिन उन्हें इतिहास की अमिट धरोहर बनने से रोका जा सकेगा इसकी सम्भावना कम है। क्योंकि इतिहास कालान्तर में निष्पक्ष सत्याग्रही और अनेकान्त दृष्टि धारक को अपने अतीत के स्वर्णिम अध्यायों से परिचित कराता रहता है। इस आलेख में अनेकान्त में पूर्व प्रकाशित श्री गोपीलाल जी अमर के आलेख का साभार आधार लिया है।